आसक्तियां

नरेन्द्र कोहली



राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली

त्रासदियां

मूल्य बीस रुपये (20.00)

TRASADIAN (Satires) by Narendra Kohli

क्रम

पूज्य बृहस्पति देव पाठक जी
को सादर सस्नेह

1 त्रासदी एक घर की

"आपका घर है ?" उन्होंने पूछा ।

"बना रहा हू ।" मैंने उत्तर दिया। जानता था कि कह दूगा कि नही है, तो भी वे मेरी कोई सहायता नही करने वाले। फिर भी स्वय को इतना दीन हीन क्यो दिखाया जाए ।

"प्लाट ले लिया है ?" उन्होने फिर पूछा ।

"नही ! सगाई कर ली है ।" मैंने उत्तर दिया।

उन्होंने भौचक होकर मुझे देखा, "क्या मतलब ?"

"सगाई कर ली है। विवाह हो जाएगा। पत्नी आ जाएगी तो घर भी बन जाएगा। कहा है न कि 'घरनी बिन घर भूत का डेरा' ।"

वे न तो साहित्य से परिचित थे, न हिन्दी से। पर तुलसीदास से वे फिर भी परिचित थे। उन्होंने डाक टिकट पर तुलसीदास का चित्र देखा था और 'मानस चतु शती समिति' को पचास रुपए चदा दिया था। इससे अधिक भारत और भारत की लोकोक्तियो के विषय मे वे कुछ नही जानते थे। इसलिए समझ नही पाए कि मैं क्या कह रहा हू।

बोले, "मैं समझा नही। कोई प्लाट ब्लाट ?"

"प्लाट एक था।" मैं शालीनता से बोला, "पर उस पर मैंने एक उपन्यास लिख दिया है।"

पर मेरी शालीनता को भी उन्होने मेरी उद्दण्डता ही माना। आगे बात करने की आवश्यकता उन्होने नही समझी।

पर गालिबे-खस्ता के वगैर कौन से काम बद हैं —उन्होने बात आगे नही चलाई तो कोई बात टूट थोड़ी गई। बात आगे चली और हमारा विवाह हो गया। पत्नी आ गई तो घर बन गया, पर उन सज्जन को मैं

नहीं भूला। वे मकान की बात कर रहे थे—यह मुझे अब समझ में आया। साथ ही समझ गया कि वे लोग अधिक समझदार होते हैं जो घर से पहले मकान बनाते हैं—और जो प्लाट पर उपन्यास लिखने के स्थान पर इट गारे का भवन खड़ा करते हैं।

तब मैं उन्हीं लोगों की शरण में गया, जिन्होंने मकान बना रखे थे। रहने के लिए मकान तो चाहिए ही था, अपना न सही, किराए का ही सही।

मकान मालिक ने पूछा, "आप विवाहित हैं ?"

अब मैं समझा कि मैं किस दुश्चक्र में फस गया हू। विवाह के बिना मकान नहीं और मकान के बिना विवाह नहीं।

बोला, "जी हा !"

"कुछ काम करते हैं ?"

"जी हा ! मैं तो यही समझता हू।"

"क्या मतलब ?" वे नाराज होने को हुए।

"जी ! बात यह है कि अपने देश में हर कोई यह मानता है कि जो कुछ वह करता है वही काम है, अन्य लोग जो कुछ करते हैं, वह भाड़ झोंकना ही है।"

"मेरा अभिप्राय यह नहीं है।" मकान मालिक बोले, "मैं पूछ रहा हू कि आप कोई नौकरी करते हैं ? कुछ वेतन मिलता है ? किराया चुकाने की स्थिति में हैं ?"

"जी ! सौभाग्य से मैं और मेरी पत्नी—दोनों ही नौकरी करते हैं।" मैंने कहा, "नौकरी बड़ी अच्छी है हमारी—हर महीने वेतन मिलता है। किराया हम अवश्य चुका दिया करेंगे।"

मकान-मालिक भला आदमी था, उसने हमारा कहना मान लिया। 'एक ने कही और दूजे मानी, कहे गुरु नानक दोनों ज्ञानी।' सभव है इधर-उधर पूछ पडताल भी की हो—पर पर्दे में। बकों के समान निलज्जता से उसने यह नहीं कहा कि अपने दफ्तर से लिखवा कर लाइए कि आप वहा काम करते हैं और वेतन भी पाते हैं।

वह न केवल कहा ही मान गया, वरन् उसने हमें मकान भी दे दिया।

तो साहब ! शामत हमारी यह आई कि हमने गर्मी की छुटि्टयो मे उस मकान मे प्रवेश किया। हमारी ओर से तो कोई कमी थी नही, पर लोग इसे गृह प्रवेश नही मानते। आम जनता का विचार है कि 'गृह प्रवेश' केवल अपने बनाए हुए मकान मे ही हो सकता है। खैर, मैं हठ नही करता कि उसे गृह प्रवेश ही माना जाए। पर हमारे मकान मालिक की हठ यह थी कि उसे गृह प्रवेश नही माना जाए, नही तो मकान हमारा ही हो जाएगा। इसलिए उसकी बात मान कर हम बिना आम और अशोक के पत्तो की बन्दनवार बाधे उस मकान मे प्रवेश कर गए।

कालेज मे गर्मी की छुटि्टया थी। बाहर लू चलती थी और धरती तपती थी। हम पहाड पर क्या जाते। सारी जमा-पूजी विवाह मे ही समाप्त हो गई थी। हनीमून की सलाह बहुतो ने दी थी, पर 'हनीमून एलाउंस' किसी ने नही दिया। कहते हैं कि उसका रिवाज नही है।

इन्ही रिवाजो के दोहरेपन मे हम मारे गए साहब ! जिस चीज का रिवाज था, अर्थात दहेज का—वह हमने लिया नही, क्योकि हम पुराने रिवाजो को तोडना चाहते थे। यह क्राति हमारे सुसराल वालो को बहुत भाती थी, पर हमारे मायके वाले कुछ विशेष प्रसन्न नही थे। हमने अपनी क्राति के चक्कर मे अपनी भाभियो और मौसियो-चाचियो को अपनी ससुराल से मिलने वाली साडियो से वचित कर दिया था। तो पुरानी परम्परा हमने तोड दी, पर नई परम्परा स्थापित नही कर पाए, इसलिए हनीमून एलाउंस हमको नही मिला और हमारी क्राति फ्लाप हो गई। हमने तय किया कि हम दिन भर पढाई करेंगे तो गर्मियो के पहाड-जैसे दिन, पहाड पर जाए बिना भी कट ही जाएगे। दूसरा ऐतिहासिक सकल्प हमने यह किया कि पुरानी परपराए तोडने की त्रासदी करने के स्थान पर हम नई परपराए स्थापित करेंगे—पुरानी परपराए इस दौड मे पिछड जाएगी, थककर बैठ जाएगी और फिर सिसक-सिसक कर अपने आप ही प्राण दे देंगी।

पर बात हनीमून की नही, हमारे मकान मालिक और गर्मी की छुटि्टयो की त्रासदी की थी।

एक सप्ताह मे ही हमारे मकान मालिक ने पिछले आगन मे से एडिया

उठा उठा कर हमारे फ्लैट म झांकना शुरू कर दिया, "अजी कोहली साहब घर पर ही हैं क्या ?"

इन गर्मियो के पहाड जस लबे तपते दिन हम पति-पत्नी तो पुस्तको के पृष्ठ उलट उलट कर तथा एक-दूसरे के मुखडे देख देख कर कट नहीं रहे थे। मिलने जुलने वाले कोई विशेष हमारे थे नहीं। अविवाहित पुरुष को कौन अपने घर बुलाता है और कौन उसके घर आता है ! अब विवाह हुआ तो आशा थी कि लोग हमसे मिलने भी आएगे और हमको बुलाएगे भी। पर य सब तो अभी भविष्य की कामनाए थी। इस समय तो अतिथि सचमुच ही हमारे लिए देवता था। सोचा, चलो, मकान मालिक ही सही। पर वे सीढिया ही नही चढे। हा शाम को सामने की घटी बजी। बाहर झांका तो फिर वही थे, 'अजी कोहली साहब घर पर ही हैं क्या ?"

थोडा ताव तो आया कि डपट कर पूछू, 'आप हमारे अध्यापक हैं या थानेदार ! सुबह शाम हाजरी लगाने चले आते हैं।' पर कहा कुछ नही। उनके मकान म हमारा नया-नया गृह प्रवेश हुआ था। अभी उनके और हमारे सबध हनीमून स्टेज पर ही थे।

इस सदर्भ मे मुझे कुछ सम्बन्धो की त्रासदी भी याद आती है। मेरा सिद्धात है कि मकान मालिक और किराएदार के सम्बन्ध, पति पत्नी के सम्बन्धो के समातर चलते हैं। पहले किराएदार बोलता है और मकान मालिक सुनता है—यह उनके सबधो की हनीमून-स्टेज है, फिर मकान मालिक बोलता है और किराएदार सुनता है—यह सम्बन्धो की मध्यावस्था है, अत मे मकान मालिक और किराएदार दोनो बोलते हैं और सारा मुहल्ला तो मुहल्ला, पुलिस और कोर्ट-कचहरी भी सुनते हैं—यह उनके सम्बन्धो की प्रौढावस्था है।

तो अपने मकान मालिक से हमारे सम्बन्ध अभी हनीमून-स्टेज पर ही थे, इसलिए झगडना उचित नही समझा—यद्यपि बोलने का अधिकार हमे था। मधुर वाणी म कहा, "आइए साहब ! आप सुबह भी पूछ कर ही रह गए— आए नही।'

"नहीं, आऊगा नही !" अस्वीकार म भी उनका स्वर बहुत मीठा

था, "बस सोचा, जरा पूछ लू—घर पर ही हैं न ?"

मेरी समझ मे उनका यह पूछना न आया और छह दिनो तक नही आया। सातवें दिन वे सपत्नीक सीढिया चढ आए। हमने समझा कि भगवान आ गए। यद्यपि इतना धम ज्ञान हमे तब भी था कि भगवान ऊपर से उतरते हैं, नीचे स सीढिया नही चढते। पर जब से समाचार-पत्रो मे समाचार पढे हैं कि किसी आश्रम या फाउडेशन के भगवान अस्वस्थ होकर अमरीका चले गए ह और वहा उनकी शल्य चिकित्सा होने वाली है तब से यह भी मान लिया है कि भगवान गली म से आवाज देकर सीढिया चढकर भी आ सकते हैं।

स्वागत किया, "पधारिए !"

'देखिए साहब ! हमारी बात का बुरा मत मानिएगा !" वे स्वय बुरा माने हुए से लगे, "आपने मकान लेने से पहले कहा था कि आप दोना यानी आप और बहनजी "

'मेरी बहनजी ?" मैंने टोका।

"नही ! जी नही !! आप और हमारी बहनजी," उन्हाने मेरी पत्नी की ओर सकेत किया, "दोनो ही नौकरी करते हैं। "

उनकी इस मुद्रा को देखकर मेरे मन मे विदेशी मुद्रा की बात उभर आई। सारा राष्ट्र आज विदेशी मुद्रा के पीछे पडा है—पाउड हो, डालर हो, दीनार हो कुछ हो, पर हो विदेशी मुद्रा। मुझे अपने मकान-मालिक की मुद्रा काफी विदेशी सी लग रही थी। उनके इस विकृत चेहरे को देखकर मेरे मन मे विदेशी मुद्रा का रहा सहा आकषण भी जाता रहा। इससे तो उनकी वह देसी खीसें निपोरती मुद्रा ही अच्छी थी। पर भारतीय रिजव बक फिर भी विदेशी मुद्रा के पीछे पडा है। ऐसी-तैसी रिजव बैंक की

सारे देश ने अग्रेजी का मुखौटा ओढकर विदेशी मुद्रा बना रखी है। हिन्दी भाषी अग्रेजी अध्यापक समाचारपत्रा म हिन्दी को गालिया दे-देकर अपनी विद्वत्न वाणी से धडाधड विदेशी मुद्रा अर्जित करते जा रहे हैं और हमारी पहचान मे ही नही आ रहे—और एक हमारे मत्रीगण हैं कि रोज देश के उद्योगपतिया और व्यवसायिया को विदेशी मुद्रा अर्जित करने की

प्रेरणा देते रहते हैं। अंग्रेजी के अध्यापकों की विदेशी मुद्रा न ही हमारे कलेजे छलनी कर रखे हैं—उद्योगपति और व्यवसायी भी उधर ही बह गए तो हमारा क्या होगा ?

खैर, मैंने अपनी देसी मुद्रा बनाए रखी और शांति से कहा, "आप को मेरी पत्नी के नौकरी करने पर क्या आपत्ति है?" यहां तक आते-आते शायद मैंने भी थोड़ी-सी विदेशी मुद्रा अर्जित कर ली थी, "देखिए साहब! मकान मालिक यह आपत्ति तो कर सकता है कि हम उसके मकान में भैंस न पालें, शराब न पिए, मांस-मछली न खाए। चलिए, मैं यह भी सहन कर लूंगा कि हम आपके मकान में रहते हुए प्याज और लहसुन भी न खाएं—पर आप मेरी पत्नी की नौकरी पर आपत्ति करेंगे, तो इसे मैं हरगिज बर्दाश्त नहीं करूंगा।"

'कोहली साहब!" उन्होंने मेरी बात काटी।

"भाड़ में गए कोहली साहब!" अब तक मैं पूरी तरह हनीमूनातीत मुद्रा में आ चुका था, 'यह हमारा घरेलू मामला है। पत्नी की नौकरी के संबंध में तो मैंने अपने पिताजी का कहा भी नहीं माना। आप कह लें कि मैं जोरू की कमाई खाता हूं। मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। जब करोड़ों स्त्रियां अपने पति की कमाई पर जीवित रहती हैं तो दो चार पुरुष यदि अपनी पत्नियों की कमाई पर आश्रित हों तो कौन सा आसमान फट जाएगा? वैसे मैं अपनी पत्नी की कमाई पर आश्रित नहीं हूं। मैं भी तो कमाता हूं। वह अपने लिए कमाती है और मैं अपने लिए कमाता हूं। या यह लीजिए, हम दोनों एक-दूसरे के लिए कमाते हैं। यदि हम दोनों नौकरी नहीं करेंगे तो हमारा गुजारा कैसे चलेगा, हम आपके मकान का इतना किराया कहां से देंगे?"

'एग्जैक्टली!" इस बार वे अंग्रेजी में बोले "मैं भी यही कह रहा था। आप दोनों नौकरी पर तो जाते नहीं हैं। मैं पिछले सप्ताह भर से चैक कर रहा हूं—आप दोनों हर समय घर पर ही होते हैं। फिर आप मेरा किराया कहां से देंगे?"

अब उनकी देसी मुद्रा मेरी समझ में आई।

"आजकल हमारी छुट्टियां चल रही हैं।" मैंने उन्हें समझाया,

"जुलाई मे कालेज खुलेंगे तो हम जाया करेंगे।"

"स्कूल मे पढावें हैं।" उनकी पत्नी ने उन्हें अपनी कुहनी से टहोका दिया।

"पता नही साहब ! कैसी-कैसी नौकरिया हैं दुनिया मे।" उन्होने बडी विवश मुद्रा मे कहा, "पहले एक साहब रहते थे। ऐसे ही, आप लोगो की तरह घर पर पडे रहते थे और कहते थे कि वे किसी रियासत के राजकुमार हैं। अन्त मे दस महीने का किराया ले भागे।"

"हम नही भागेंगे।" मैंने उन्हे आश्वासन दिया, "अब आए हैं तो यही रहेंगे और आपका किराया नियमित देंगे।"

वे आश्वस्त हो गए पर उनकी पत्नी आश्वस्त नही हुईं। इसका पता हमे तब चला, जब उन्होने सुबह शाम हमारे घर मे झाकना शुरू किया।

एक दिन वे मेरी पत्नी से पूछ भी बैठी, "आपकी शादी हो गई, बहनजी ?"

मेरी पत्नी का भौचक मुद्रा मे मुह खुल गया, "क्या कह रही हैं आप ?"

"बुरा न मानना," वे क्षमा याचना के ढग से बोली, "हम भी गृहस्थ हैं। बाल बच्चे वाले हैं। दुनिया देखी है, पर तुम जैसी ब्याहता तो देखी ही नही।"

मेरी पत्नी का चेहरा उतर गया। उसका हाथ अपने माथे पर चला गया। वह न माग मे सिंदूर डालती है और न माथे पर बिंदी लगाती है। उसकी मा और मेरी सास कई बार उसे टोक भी चुकी है। फिर उसकी दृष्टि अपनी कलाइया पर गई, जहा चूडिया तो दूर, आज उसकी घडी भी नही थी, "जी !   "

'हा !" मकान मालिक की पत्नी बोली, "पहले वो राजकुमार और राजकुमारी यहा रहे थे, तो रोज सुबह शाम लडें थे। पडोस म शर्मा की बहू ब्याही आई तो वह लडें है। इधर खन्ना की पत्नी रोज पिटै है। तुम लोग न लडो हो, न मार पीट ब्याह हो गया बहन जी, तुम्हारा ? आखिर घर गिरिस्ती की बात है। जहा चार बतन हों, आपस म टकरावें ही हैं। तुम्हारी तो आवाज भी कभी हमारे कान म नही पडी। कही भाग-

लगा करता ।"

मुझे अपने मकान मालिक की पत्नी की बात जंच गई। ठीक ही तो कह रही थी बेचारी। पति पत्नी लड़ें तो एक प्रकार की नामर्दी होती है और न लड़ें तो दूसरी प्रकार की।

सुना है हमारे मकान मालिक भी आजकल कुछ अस्वस्थ हैं। उन्हें मेरे इस आश्वासन में, कि मैं उनका मकान छोड़कर भागूंगा नहीं, उनका मकान हड़प लेने का मेरा षडयन्त्र दिखाई पड़ रहा है।

2 त्रासदियाँ प्रेम की

कहा तो वह मेरी बात भी नही सुनती थी और कहा उस दिन बोली, "मैं तैयार हू । जहा तुम्हारा मन चाहे, ले चलो ।'

मेरे मस्तिष्क की काय प्रणाली दिल्ली टैलिफोन व्यवस्था से बहुत साम्य रखती है। उसकी स्वीकृति पाई और इधर गलत लाइन मिल गई। मेरे मन म अपनी मा का चेहरा उभरा। कब से मा कह रही है, "बेटा ! वह कौन-सा दिन होगा जब तू एक चाद-सी बहू मुझे ला देगा।" मेरे मन ने कहा, 'यही अवसर है नरेन्द्र कोहली। दोनो की इच्छाए पूरी कर दे। इसकी इच्छा है कि इसे कही ले चल और मा की इच्छा है कि उसे बहू ला दे। बस ! अब सोच मत। सास-बहू का मिलाप करा दे।'

ऐसा सुखी भी कौन होगा, जैसा कि उस समय मैं था एक ओर प्रिया तैयार खडी थी—'ले चल जहा चाहे।' और दूसरी ओर मा बाहु फैलाए खडी थी—'ले आ बटा, जिसे चाहे।'

"जी तो चाहता है," मैं बोला, "तुम्हे अपनी मा के पास ले चलू।"

"मुझे अपने लिए रिज़र्व कर लेना चाहते हो ?" वह मुस्कराई।

"हा ! ताकि फिर तुम कही और न जा सको।"

"अच्छा, इस कायक्रम को कुछ दिनो के लिए अभी स्थगित ही रखो," वह बोली, "मुझे एक काम याद आ गया है।"

मैं एक सहृदय प्रेमी के समान उसकी बात मान गया और वह चली गई। गई तो ऐसी गई कि भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास का नाम हो गई, अर्थात्—वह फिर नही आई।

तब समझ नही पाया था, पर आज मैं समझता हू कि वह क्या था। वस्तुत शृगार और वात्सल्य का मिश्रण बडी भयकर भूल है। शृगार और वात्सल्य का सबध—बहू और सास का सबध है। काव्य शास्त्र की

इसी भ्रांति में मार खा गया। भला बहू जाकर सास के पास रहना क्यों चाहेगी ?

नारी-मनोविज्ञान का मेरा ज्ञान खासा अधकचरा और आउट-आफ डेट है। उसके इस वाक्य का अर्थ दस वर्ष बाद मेरी समझ में आया, और वह भी यारों के समझाने पर आया। वह कह रही थी कि किसी होटल में ले चलो, किसी रेस्ट्रां में ले चलो, किसी थियेटर में ले चलो, किसी पार्क में ले चलो। और मैंने उसके सम्मुख सास के पास चलने का प्रस्ताव रख दिया। साहित्य के रसराज शृंगार रस के विषय में पढ़-पढ़कर आंखें फोड़ लीं और जीवन में जब व्यवहार का अवसर आया तो वात्सल्य और मार गया। यह रसों की त्रासदी थी

पर मेरे साथ प्रेम के क्षेत्र में एक यही त्रासदी हुई हो—ऐसी बात नहीं है। ऐसी कुछ त्रासदियां और भी हैं।

हम कालेज के टूर पर निकले हुए थे। वह अकसर मेरे साथ ही घूमती थी। मेरे साथ ही बातें करती थी। अब बस में भी वह मेरे साथ ही बैठी थी। थोड़ी देर तो मेरी टाई और मेरे बालों की प्रशंसा करती रही, फिर बोली, "मुझे नींद आ रही है। जरा सीधे होकर बैठ जाओ।"

मैंने भौचक हो उल्लू के समान उसकी ओर देखा—'सीधे बैठ जाओ' तक तो ठीक था। मां भी यही कहा करती थी कि मैं झुककर बैठता हूं। ऐसे में कमर झुक जाती है। मुझे सीधे होकर बैठना चाहिए। बाद में ड्रिल मास्टर से लेकर क्लास टीचर तक सबने यही कहा था 'सीधे बैठो।' आज वह भी चाहती थी कि मैं सीधा बैठा करूं तो क्या हर्ज है ? दिन भर के घूमने फिरने से थका हुआ तो था, पर उसकी बात मानकर सीधे बैठना ही श्रेयस्कर था। किंतु उसकी नींद से मेरे सीधे बैठने का क्या सम्बन्ध ? मन तर्कशास्त्र की ओर भागने की जगह पर काव्यशास्त्र की ओर भागा। समझ गया कि यह असगति अलंकार है—कारण कहीं होता है, कार्य कहीं और होता है। नींद उसे आ रही थी और सीधा मुझे बैठना था। असंगति अलंकार का ऐसा सुंदर, जीवन्त और आधुनिक उदाहरण सामने देख मैं गद्गद हो उठा। मेरा ध्यान उसकी ओर से हटकर परीक्षा की ओर चला गया। परीक्षा में यदि असंगति अलंकार के विषय में पूछा

गया तो यही उदाहरण लिखूगा। परीक्षक भी चित हो जाएगा

अभी तो मेरा ध्यान परीक्षा-फल और उसके आधार पर मिलने वाली नौकरी तक जाता, पर उसकी हरकत से मेरी चिन्तन-प्रक्रिया मे बाधा पडी, विचारो की शृखला टूट गई और मेरा ध्यान पलट आया। हुआ यह कि मेरे सीधे बैठते ही उसने अपना सिर मेरे कधे से टिका दिया था और सोने के लिए आखें बन्द कर ली थी

मेरा मस्तिष्क काव्यशास्त्र के खेत को चरना छोड, सरपट भागता हुआ नागरिकशास्त्र मे जा घुसा ! यह कैसा शिष्टाचार है। इसे नीद आई है तो मैं तन कर रात-भर ड्यूटी पर बैठा रहू कि कही मेमसाहब की नीद मे विघ्न न पडे। यह कैसा समाज है—स्वार्थी। केवल अपनी ही सुविधा का ध्यान है, दूसरे के आराम की तनिक भी चिन्ता नही। एक आदमी को आराम से सोने के लिए दूसरे का कधा चाहिए और दूसरे को जरा ढीले होकर बैठने की भी सुविधा नही

पर मैं न तो उसे इस अशिष्टता के लिए फटकार सका, न नागरिकशास्त्र पर व्याख्यान दे सका। मेरे कधे से टिकी वह बडी प्यारी लग रही थी। मन भी पिघल रहा था और वह कधा भी, जिससे लगी वह सो रही थी। दूसरा कधा अपने भाग्य पर आठ-आठ आसू रो रहा था पर तभी मेरी आत्मा ने मुझे धिक्कार दिया, 'दुष्ट ! तू मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही है। एक अबला नारी, सैर-सपाटे से थकी हारी, यदि तेरे सहारे से कुछ विश्राम कर लेना चाहती है तो तेरे मन मे दूषित विचारा का मेला लग रहा है। तेरे घर मे मा बहन नही हैं क्या ? यह मानव-तन क्यों पाया है तूने, यदि कष्ट मे किसी की तनिक सहायता भी तू नही कर सकता '

आत्मा के धिक्कार का तत्काल प्रभाव हुआ। मेरे भीतर का सोया हुआ सामाजिक कार्यकर्ता जाग उठा और प्रेमी पुरुष सो गया। मैंने अपनी चेतना को जगाया और उसे याद दिलाया—यह शरीर दूसरा की सेवा के लिए ही था। विशेषकर यह कधा तो बना ही इसीलिए था। मैंने वही बैठे बैठे भीष्म प्रतिज्ञा की कि यह कधा आज से जन-कल्याण के लिए ही अर्पित है—चाहे किसी कन्या के सोने के लिए काम आए, या किसी

की अर्थी उठाने में। आज म जो भी मेरा कंधा मांगेगा—यह उसी को अर्पित होगा

पर उसे शायद नींद नहीं आ रही थी। वह सीधी होकर बैठ गई और ध्यान से मेरा चेहरा देखने लगी। कदाचित देख रही थी कि उसके द्वारा मेरे कंधे का उपयोग मुझे बुरा तो नहीं लगा। सामान्यत तो ऐसी हरकत मुझे बुरी ही लगती है। मैं अपना शेविंग सेट तो किसी और को देता नहीं, अपना कंधा कैसे दे देता! पर उस क्षण मेरी आत्मा उदात्तता और उदारता के ऊंचे-से ऊंचे शिखरों पर उड़ रही थी, इसलिए उसके द्वारा अपने कंधे के इस दुरुपयोग के लिए मैंने अपनी अप्रसन्नता नहीं जताई। बड़ी उदारता से बोला, "सो जाओ। सो जाओ। मैं बुरा नहीं मानूंगा।"

उसकी आखों में मेरे प्रति प्रशंसा का भाव नहीं जागा। वह मुझे ऐसे देख रही थी जैसे मैं आदमी न होकर छछूंदर या ऊदबिलाव होऊं। फिर जैसे स्वयं को बलात् संयत कर बोली, "मुझे नींद नहीं आ रही।"

जी मे आया, उससे कहूं कि नींद नहीं आ रही तो थोड़ी देर के लिए किसी और सीट पर जा बैठे, मैं ही अपनी कमर सीधी कर लूं। पर तत्काल ही मेरे विवेक ने मुझे धिक्कारा। वह स्त्री है, कोमल है। मैं पुरुष हूं, कठोर हूं। मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए—

"क्यों? नींद क्या नहीं आ रही?" मैंने पूछा।

"सिर मे कुछ दर्द है।" वह बोली "लगता है, ज्वर भी हो गया है। तुम मेरा सिर दबा दोगे?"

इच्छा हुई कि उसे बता दूं कि अभी-अभी मैंने स्वयं को दूसरों के कष्ट निवारण के लिए समर्पित किया है और थोड़ा-बहुत ज्ञान अपने जीवन के आदर्शों का भी दे दूं। पर उसके सामने जुबान खुल नहीं पाई। मन में जाने कैसी गुदगुदी हो रही थी। वह मुझसे अनुचित लाभ उठा रही थी फिर भी अच्छी लग रही थी।

हल्के से बोला, "दबा दूंगा।"

"थैंक यू।" वह बोली।

और इससे पहले कि मैं कुछ समझ सकता, वह अधलेटी सी हो गई

और अपना सिर उसने मेरी गोद मे रख दिया। मुझे अपनी दादी और अपने पिताजी याद आ गए। बचपन से ही वे लोग मुझसे सिर दबवाते रहे हैं। मेरी घटे घटे की मेहनत के पश्चात हल्की सी प्रशसा कर देते 'तुम बहुत अच्छा सिर दबाते हो।"

अपनी गोद मे लेटी वह मुझे अपनी दादी लग रही थी। मैं अब इसका सिर दबाता रहूंगा और यह आराम से सो जाएगी। मेरी दादी भी यही किया करती थी। मैं उसका सिर दबाता रहता और वह खर्राटे लेती रहती। मेरी कलाइया दुख जाती और उसके कान पर जू तक नही रेंगती। अपने कोमल और मोह बच्चे को इस शोषण से बचाने के लिए मेरी मा अपनी सास से डरती डरती, दरवाज़े के पीछे से ही मुझे उठ आने का इशारा करती तो मैं उठने का साहस करता। पर मेरे उठते ही किसी जादू से मेरी सोई हुई दादी की नीद उचट जाती और वह करवट बदल कर कहती, "कहा जा रहा है ?"

मैं चिंतित हो उठा मैं सिर दबाता रहा और यह सो गई, तो मेरा क्या होगा ? यहा तो मेरी मा भी नही है जो अपनी सास के पजे से मुझे छुडाने का प्रयत्न करती और यह मेरी दादी की दादी मेरी गोद मे सिर रखे, आराम से लेटी हुई थी

मैंने मन को समझाया। अपने आदर्शों को याद किया और उसका सिर दबाना आरम्भ किया। पर थोडी ही देर मे मैं अपने मन के पाप को पहचानने लगा। उसका सिर दबाते-दबाते मेरी अगुलिया बहक-बहक कर उसके गालो तक जाने लगी थी। मैंने भयभीत दृष्टि से उसकी ओर देखा कहीं उसे मालूम तो नहीं हो गया ? पर नहीं ! उसकी नीद, मेरी दादी की नीद से बहुत भिन्न थी। उसे मालूम नही हो रहा था कि मैंने उसके गालो को छुआ था। वह बडी सन्तुष्ट मुद्रा मे, आखें बन्द किए निश्चिन्त पडी थी।

मैंने अपने मन को धिक्कारा एक पराई स्त्री ज्वरग्रस्त हो, उसके सिर में पीडा हो रही हो, वह मुझसे सहायता माग रही हो और मुझ मे पाप जाग रहा है। धिक्कार है मुझे ! किसी की विपत्ति का लाभ उठाना कहा की मानवता है ! बस, इतना ही धिक्कार पर्याप्त हुआ। फिर मेरे

सात्त्विक मन मे तनिक भी पाप नही जागा। मैं पूरी निष्ठा से उसकी दवा करता रहा और वह चुपचाप पडी रही। पर जब उसकी नीद मेरी दादी की नीद से भी लम्बी हो गई और मैं रोगी की सेवा-सुश्रूषा स ऊब गया तो सहायता के लिए मैंने अपने साथियो की ओर याचना भरी दृष्टि से देखा। किन्तु, उनमे से किसी को भी मेरी स्थिति पर दया नही आई, न लडको को, न लडकियो को (कितना कठोर है यह समाज और कितने दुष्ट होते हैं लोग।) उल्टे वे लोग परिहास की मुद्रा म मुस्कराते जा रहे थे। अन्तत मुझे कहना ही पडा, "भई! कोई आ जाओ। इसकी तबीयत ठीक नही है।"

पर तभी वह उठकर सीधी बैठ गई। घूर कर यू देखा, जैसे मेरी कठोर भर्त्सना करने वाली हो। किन्तु वह इतनी कृतघ्न कैसे हो सकती थी? क्रोध म भी उसके मुख से मेरे लिए प्रशसा का ही वाक्य निकला, "तुम्हें काव्यशास्त्र ही समझ म आ सकता है।"

मुझे यह अधूरी प्रशसा अच्छी नही लगी। आत्मप्रशसा को दोष मानते हुए भी शालीनता की सीमा के भीतर से बोला, "नही, भाषा-विज्ञान मे भी अधिकतम अक मेरे ही थे।"

उसने सिर पीट लिया, 'कौन सी भाषा समझते हो तुम! मैं तुम्हारे निवेदन की प्रतीक्षा मे हृदय थामे, बेदामों के समान तुम्हारी गोद मे पडी थी और तुम अपने मित्रो को मेरा सिर दबाने के लिए बुला रहे थे बौडम कही के !"

और तब हमारी समझ मे आया कि हमारे जीवन मे प्रेम की एक और त्रासदी घट गई है

मेरे साथ प्रेम की एक छोटी सी त्रासदी और भी घटी है—पर वह बस मे नही, रेलगाडी मे घटी थी। इस त्रासदी को उसकी पूर्ण समग्रता म समझने के लिए आपको थोडा-सा वातावरण का वर्णन भी सुनना पडेगा।

उन दिनो भी अभी मैं कालेज मे ही पढता था। उस दिन कही बाहर जाना पड रहा था जब बात इतनी खुलकर हो रही है, तो फिर आपसे

क्या छुपाता। भैया के साथ भी प्रेम की त्रासदी घट रही थी। भाभी मायके जाकर बैठ गई थी और भैया के पत्रों का उत्तर नहीं दे रही थी, इसलिए मुझे जाना पड़ रहा था। मुझे जाकर देखना था कि भाभी स्वस्थ तो हैं।

वह यात्रा भी बड़ी त्रासद थी साहब! बिना आरक्षण का रेल का डिब्बा और कुंभ के मेले जैसी भीड़। अभी तो संध्या का ही समय था, पर यात्रा रात भर की थी। सोच रहा था कि रात कैसे कटेगी कि प्लेटफार्म पर वह आती दिखाई दी। जैसा कि प्रेमकथाओं में होता है—वह हमारे कालेज में पढ़ती थी। पर साहब! मैं अपनी रचना को घटिया रोमानी रचना नहीं बनाना चाहता इसलिए पहले से ही स्पष्ट कर दूं कि वह मेरी कक्षा में नहीं थी। मुझसे दो साल पीछे थी, और जब तक मैं पढ़ता रहा, वह मुझसे दो साल पीछे ही रही, अर्थात् हमारी दूरी निरन्तर बनी ही रही। पर उस दिन वह निकट आ गई। जिस खिड़की की सीट के साथ मैं तना बैठा था, उसी के पास आकर वह रुक गई और मुझे देखकर मुस्कराई।

मैंने पहले तो गर्दन घुमाकर इधर उधर देखकर पुष्टि की कि वह मुझे देखकर ही मुस्करा रही है न! जब पुष्टि हो गई कि मुस्कान मेरे लिए ही थी तो मेरे कान गर्म होने आरम्भ हो गए।

वह मुस्कराकर ही नहीं टली। बोली, "नमस्ते!"

शिष्टाचार का मारा मैं बोला, "नमस्ते!"

उसने परिचय कराया, "ये मेरे पिताजी हैं।"

समझ नहीं पाया कि यदि उसके साथ उसके पिताजी हैं तो मैं क्या करूं। मैंने तो उससे पूछा भी नहीं था कि उसके साथ यह पुरुष कौन है। उसे मुझको स्पष्टीकरण देने की क्या आवश्यकता थी कि वह कोई पर-पुरुष नहीं—उसके पिताजी हैं। कोई किसी के साथ घूमता रहे, मुझे किसी से क्या लेना-देना। मैं कोई फिल्मों में चित्रित समाज हूं कि दूसरों के निजी मामलों में हस्तक्षेप करता फिरूं। कोई अपने पिता के साथ घूमे या अपने बच्चों के पिता के साथ—मुझे किसी से क्या लेना देना

इससे पहले कि मैं कठोर स्वर में पूछूं कि ये तुम्हारे पिताजी हैं, तो

मैं क्या करू—'राम की शक्ति पूजा' की दुर्गा के समान मेरी मा की मूर्ति मेरे मन म उदित हुई और वह वाक्य बोली, जो ऐसे प्रत्येक अवसर पर मैं बचपन से सुनता आ रहा हू, 'नमस्ते करो!'

"नमस्ते जी!" मैंने आज्ञा का पालन किया।

इस बार उसके पिताजी बोले "बेटा! बडा अच्छा हुआ, तुम मिल गए। गाडी मे इतनी भीड है और ये बच्चे अकेले जा रहे हैं।"

और तब पहली बार मेरा ध्यान उसके साथ सटे एक छोटे लडके और लडकी की ओर गया।

"इन्ह जरा अपने पास बैठा लो।" उसके पिताजी ने कहा, "ये लोग अपनी अटैची पर ही बैठ जाएगे। तुमको कष्ट नही देंगे।"

एक बार तो मन म भारतीय यात्री जागा। इच्छा हुई, डाट कर कह दू—'यहा भी कोई जगह नही है। मैं स्वय भी बडी कठिनाई से फसा बैठा हू। आप इन्ह कही और ले जाइए।'

पर वह देना सरल था क्या? वह मुझसे एक फुट की दूरी पर खडी मुझे देख देख कर निरन्तर मुस्कराए जा रही थी। उसके छोटे भाई-बहन याचना भरी दृष्टि से मुझे देख रहे थे। कालेज म जब से उसे देखा था बात करने का कोई बहाना ढढता रहा था। आज अवसर मिला है तो रेल का भारतीय यात्री बन जाऊ?

अवसर स चूकना मूखता है और अवसर क पीछे भागना अवसरवादिता। समझ नही पा रहा था कि मूखता तथा अवसरवादिता म से श्रेष्ठ क्या है। लगता है कि उसके पिताजी मेरे द्वन्द्व को समझ गए थे। वे नही चाहते थे कि मैं अन्तद्वन्द्व की इस भयानक यातना म पडा अधिक देर तक कष्ट पाऊ। वे दयानिधान बन कर मुझे इस पीडा से उबारने के लिए आगे बढे।

उन्होने अटैची उठा कर मेरी ओर बढाई, "लो बेटा! पकडो।"

मन मे एक बडा मधुर चित्र जागा कि मेरा और उसका विवाह हो गया है। उसके पिता हमे विदा करने आए है और उसके कपडो की अटैची मुझे पकडा रहे हैं।

मने आपसे कहा न कि मुझे ठीक समय पर ठीक बात कभी नही

सूझती।

ऐसे रोमानी क्षणो मे मेरा समाज सुधारक जाग उठा। जी में आया कि चीख ही नही पडू, बल्कि उन्हे डाट कर कहू, "मैं दहेज का कट्टर विरोधी हू। मैं दहेज मे कुछ नही लगा। यदि आप मुझे बाध्य करेंगे तो मैं दहेज के साथ-साथ आपकी लडकी को भी छोड जाऊगा ।"

यह तो अच्छा हुआ कि उसकी मुस्कान की उपस्थिति मे मेरी वाचालता हवा हो गई थी और मैं कुछ बोल नही पा रहा था। यदि कही कुछ बोल पडता तो अनर्थ ही हो जाता। मैं होश मे आया। अपने भीतर के समाज सुधारक के सिर पर एक चपत जमाई और चुपचाप हाथ बढा कर अटैची थाम ली। उसके पश्चात उसका हाथ भी थामा (जीवन भर के लिए नही, खिडकी के माग स गाडी मे आने के लिए सहायतार्थ)।

फिर उसके पिताजी चले गए। अब उसका और उसके भाई-बहन का अभिभावक मैं ही था। तब पहली बार मुझे ज्ञात हुआ कि और अनेक गुणा के साथ साथ, मुझमे एक बहुत अच्छे अभिभावक के भी गुण है। मैं सतर्क हो गया। मुझे उनके लिए स्थान बनाना ही थ। चाहे मुझे कितना ही कष्ट क्यो न हो।

पर उसने मुझे अधिक कष्ट नही करने दिया। उसने पैरो के पास अपनी अटैची बिछा दी और उस पर अपने छोटे भाई-बहन को बैठा दिया। स्वय वह दीवार से टिक कर खडी हो गई।

मैं यह कैसे सहन करता। उसे बैठने के लिए जगह न मिले और मैं आराम से बैठा रहू। मैं उठकर खडा हो गया।

"यहा बैठ जाओ।"

उसने मुझे देखा और मुस्कराई। ऐसी मुस्कान मैंने पहले कभी नही देखी थी। लगा, मेरे शरीर का सारा रक्त सनसनाने लगा है। वह आगे बढी। उसने मेरा हाथ पकड कर मुझे मेरी सीट पर बठाया और स्वय खिडकी की ओर मुझसे सट कर बैठ गई।

यह तो अदभुत अनुभव था—जिससे दो बातें करने को सारा कालेज तरसता था, वह यहा मुझसे इस प्रकार सटी बैठी थी। इस दृश्य को कालेज का कोई लडका देख ले, तो जल कर घटना स्थल पर ही मर जाए।

कालेज का लड़का तो कोई मरा नहीं, मेरे भीतर का समाज-सुधारक जल मरा। उसने बिना चेतावनी दिए ही लाठी चार्ज कर दिया, 'साले! शर्म से डूब क्यों नहीं मरते? उस भली लड़की को बैठने की जगह नहीं मिल रही है। वह तुम्हें कष्ट नहीं देना चाहती, इसलिए तुम्हारे साथ बैठ गई और तुम उससे सटे जा रहे हो। किसी की मजबूरी का ऐसे लाभ उठाना चाहिए। छि ।'

दुत्कार इतनी बढ़ी कि मैं डर गया। कहीं ऐसा न हो कि इससे परेशान होकर मैं चलती गाड़ी से कूद जाऊं।

मैंने स्वयं को संभाला और यथासंभव दूसरी ओर खिसकता गया। पर मुझे लगा कि मेरे साथ बैठी हुई वह ठोस नहीं, तरल पदार्थ है। जितना मैं खिसकता था उतनी वह फैल जाती थी। उसका स्पर्श इतना मादक था कि सिर भन्नाने लगा था। एक ओर मन पिघलता जा रहा था और दूसरी ओर विवेक लताड़ता जा रहा था। परिणाम जाने क्या होता कि उसकी छोटी बहन कुनमुनाई, 'हम दीदी के साथ बैठेंगे।'

मेरा जाग्रत विवेक आगे बढ़ा। मैं उठ खड़ा हुआ। बच्ची को उठाया और उसके साथ सीट पर बठा दिया। किंतु उसकी ओर देखा तो जानने में क्षण भी नहीं लगा कि फिर त्रासदी हो गई थी। अपनी नन्ही बहन को सुविधाजनक स्थान पर बैठी देखकर वह तनिक भी प्रसन्न नहीं दीख रही थी। उसकी आंखों में मेरे लिए इतनी लताड़ थी, जितनी मेरे विवेक की कल्पना से भी बाहर थी

3 मेरे जीवन की नाटकीय त्रासदिया

मेरी किशोरावस्था की त्रासदिया बडी भयकर हैं। यह वह वय है, जिसमे स्मरण शक्ति बडी प्रखर होती है। कुछ भुलाए ही नही भूलता। सभी याद करने बैठू तो मेरी स्मरण शक्ति पाठको के लिए त्रासदी हो जाए। एक से बढ कर एक बढिया से बढिया त्रासदिया याद आने लगेंगी। पर इतनी सारी त्रासदिया याद कर क्या करू—जिनके आकडो से लगने लगे कि मेरा जीवन अपने आप मे एक त्रासदी है, जबकि मैं जानता हू कि सत्य यह नही है। यदि ऐसा होता तो मैं भी कवियो के समान नारा लगाता—'मैं अपने कधो पर अपना सलीब ढो रहा हू—' या, मैं अपने कधो पर अपनी लाश ढो रहा हू'—ढोने को चाहे, अपना थैला न ढोया हो। कुछ ऐसे ही तथ्यो के कारण मैंने आकडाशास्त्र तथा कवि के निष्कर्षों को कभी गभीरता से स्वीकार नही किया।

पर बात कवियो तथा आकडाशास्त्र की नही, मेरी किशोरावस्था की त्रासदियो की थी। मेरी किशोरावस्था की सबसे बडी त्रासदी रगमच रहा है। रगमच से मेरा अभिप्राय सीधे सीधे नाटक से ही है। नाटक मे न चुना जाना मेरी त्रासदी नही रही—जैसा कि पाठक समझ रहे होगे। मेरी त्रासदिया तो नाटक के लिए चुने जाने के बाद आरभ होती हैं। आज कोसता हू उन घडियो को, जब मुझे नाटक मे अभिनय करने के लिए चुना गया था।

कालेज मे पहुचा तो नाटक मे अभिनय करने को बहुत व्याकुल था। मुझे व्याकुलता के भयकर दौरे पडते हैं—कभी ग्रहण के, कभी त्याग के। पर ठीक समय पर ठीक दौरा मुझे कभी नही पडा। विवाह के पूर्व ग्रहण (सूर्य ग्रहण नही, कन्या ग्रहण) का दौरा पडा था और विवाह के पश्चात् त्याग की व्याकुलता का दौरा अनेक बार पड चुका है, पर घर म एक

ओझा निरतर उपस्थित है, जो सारे दौरे झाड देता है। तो कालेज म अभिनय करने की व्याकुलता का दौरा पडा था। किसी ने चेहरे से व्याकुलता भाप ली होगी, तभी तो मुझे चुन लिया गया और नाटक के अत मे मच पर उपस्थित हो, एक वाक्य बोलकर लौट आने का महत्वपूर्ण दायित्व सौंप दिया। दौरे की स्थिति थी। मैंने प्रस्ताव तत्काल स्वीकार कर लिया। स्वय को समझा लिया कि महान् बनना है तो किसी काम को छोटा मत समझो। तो उस भूमिका को ही क्यों छोटा मानता। नाटक की नायिका (जैसा कि होना ही चाहिए था) बी० ए० अतिम वर्ष की छात्रा थी। मैं अभी प्रथम वर्ष म ही आया था, इसलिए उसकी दृष्टि म नगण्य जीव था। उसके व्यवहार स स्पष्ट था कि मैं उसे तनिक भी पसद नही आया था। वह उस नाटक म भी मुझे अपने भाई के रूप म भी स्वीकार नही कर पाई थी। पर त्रासदी यह नही थी

मुझे अपनी मा से भरपूर वात्सल्य मिला है, इसलिए सीनियर लडकिया से प्रेम व्यवहार चलाने की तृष्णा मुझ मे कभी नही रही। और जब कभी किसी सीनियर लडकी ने ऐसा प्रयत्न किया है, मुझे शृगार के स्थान पर हास्य की अनुभूति हुई है। पर वे किस्से फिर कभी सुनाऊगा। अभी तो नाटक की नायिका की चर्चा चल रही है। और इस नाटक की नायिका तो सुदर भी नही थी। ईमानदारी की बात यह है कि मुझे भी उसके साथ का यह रिश्ता तनिक भी पसद नही आया था। उसकी उपेक्षा मेरे लिए कुछ अर्थों म सुखद ही रही थी। पर त्रासदी यह भी नही थी

इस नाटक की त्रासदी बड वर्ड म घटित हो रही थी। नायक महोदय का व्यवहार मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण था। उन्हें नायिका ग्रहण की व्याकुलता का दौरा बडे जोर स पडा हुआ था, इसलिए वे नायिका के साथ मेरे इस नाटकीय सबध को पूर्णत यथार्थ धरातल पर ग्रहण कर रहे थे। नाटक तो जैसे तसे समाप्त हो गया, पर उसके प्रभाव जीवन मे बहुत दूर तक चलते गए। जैसा कि होना चाहिए था, नायिका का विवाह नायक महोदय से नही हो सका। (इसम नायिका के पिता का कोई दोष नही था। उसने शायद चाहा भी था। नायिका की ही यह लार टपकाता

नायक पसद नही आया था। उसकी सहज इच्छा का सम्मान करते हुए उसका विवाह कही और कर दिया गया था)। इधर नायक महोदय, नायिका का तो कुछ बिगाड नही पाए, मुझसे रुष्ट अवश्य हो गए। कह नही सकता, उसके मन म कौन सी तक-श्रृखला थी क्या वह चाहते थे कि नायिका का नाटकीय भाई होने के नाते मैं उसका विवाह उनसे करवाने का सक्रिय प्रयास करता—जो मैंने नही किया ? वे कदाचित् मेरी प्रकृति को नही समझते। मैंने तो सिवाय अपने, और किसी के भी विवाह मे कभी कोई रुचि नही ली। मेरा तो सिद्धात ही है, न दूसरे के विवाह मे हस्त क्षेप करो, न किसी को अपने विवाह मे हस्तक्षेप करने दो। यह 'जिओ और जीने दो' की तर्कपूर्ण परिणति है। पर वे नायक महोदय न सिद्धात को समझते थे, न तकशास्त्र को। न उस नायिका का और न मुझे। वे समझते थे कि नायिका की रुचि जितनी मुझ म होनी चाहिए थी, उससे अधिक हो गई थी। जो भी हो, नायक महोदय से मेरे सबध आज तक उतने ही कटु चले आ रहे हैं। और इस कटुता के लिए वे ही पछता रहे हो तो पछता रहे हो मुझे सबधो के पश्चात्ताप म अधिक विश्वास नही है। सबधो की त्रासदी और किसे कहते हैं ?

ऐसी ही त्रासदी एक अन्य नाटक मे भी हुई। दूसरे नाटक के समय तक मैं पर्याप्त उन्नति कर चुका था, अर्थात् नायिका के भाई से स्वय नायक बन चुका था। इस नाटक की नायिका उस समय तो काफी आकषक ही लगी थी—उस समय तक सावन के अधे को हरा ही हरा सूझने लगा था—अर्थात हर युवती अच्छी लगने लगी थी। आज पद्रह वर्षों बाद उनम स कोई दिख जाती है तो अपनी युवावस्था का नेगेटिव ही दिखाई पडती है और मैं अपनी पीठ ठोकता हू कि भले बचे, इससे विवाह नही किया। आज जान वह नायिका कैसी लगे। पर इस नायक-नायिका सबध मे बडी त्रासदी है साहब! लोगो ने हमसे पूछे बिना ही हम प्रेमी प्रेमिका मान लिया। मुझे नायिका के साथ देखते तो मुस्करा कर दूर हट जाते। अकेला देखते तो मुस्करा कर पूछते, "आज अकेले ही हो ? वह साथ छोड गई ?" नायक बनने के चक्कर मे हम एकदम अकेले हो गए। नायक क्या बने, यार दोस्तो को खलनायक दिखाई पडने लग।

न कोई हम साथ बैठाए, न हमारे साथ बैठे "तुमको फुरसत कहां होगी ? तुम्हारी तो हीरोइन आती होगी।"

और इधर, नायिका थी कि एकांत होते ही अपने मंगेतर की कहानियां इस प्रकार सुनाने लगती जैसे मच्छरों को भगाने के लिए 'फ्लिट' छिड़का जाता है। वह देखने में कैसा है, क्या काम करता है, क्या चाहता है । मैं नायिका को समझाना चाहता था कि मुझे उसके मंगेतर में कोई रुचि नहीं है, पर हरिनारायण आप्टे ने ठीक कहा है 'कौन ध्यान देता है।' वह पूरी नायिका थी—अर्थात् वन वे ट्रैफिक । बोलती धारा प्रवाह थी। सुनने वाला चैनल थी ही नहीं। मित्रों को समझाना चाहता था कि मुझे इस नायिका में कोई रुचि नहीं है—पर उधर भी कौन सुनता था। नायक बनकर, मुझ पर दोहरी त्रासदी घट रही थी और मैं था कि किसी को हाले दिल समझा ही नहीं पा रहा था—उन्हीं दिनों मैं समझ पाया कि ट्रैजिक हीरो किसे कहते हैं।

उस समय तो मैं इतनी ही त्रासदी से परेशान था—यह नहीं समझ रहा था कि वह तो रिहर्सल मात्र था—असल नाटक तो आगे आने वाला था।—हुआ यह कि मैं बी० ए० कर पजे झाड़ कर निकल गया। कालेज छूटा तो छूटा, एम० ए० करने के चक्कर में नगर भी छोड़ दिया। उस प्रवास में हमारी भूतपूर्व नायिका के जो पत्र आए, वे और बड़ी नाटकीय त्रासदी लिये हुए थे। उसने लिखा था, उसे अकेली देखकर लोग आवाजें कसते हैं। कुछ तो सहानुभूति भी दिखाते हैं कि मैं उसे छोड़ भागा। बेवफा कहीं का। यह भी कोई तरीका है। उसने लिखा था कि मुझ पर बेवफाई के ये आरोप उसे अच्छे नहीं लगते। उसे मुझसे सहानुभूति थी। और मैं सोचता रहता कि कृष्ण मथुरा चले गए तो राधा भी उन्हें ऐसे ही पत्र लिखा करती होगी।

मैं भी बहुत परेशान रहा, बेवफाई की त्रासदी से। अब मैं बैठा हूं दिल्ली में और बदनाम हो रहा जमशेदपुर में। किसे किसे समझाने जाऊं कि इसमें बेवफाई का कण भी नहीं है। जिसे लोग हमारा प्रेम समझ बैठे थे वह तो अपने अध्यापकों के निर्देशन में की गई हमारी एक्स्ट्रा कैरिकुलर एक्टिविटी थी। भला एक्स्ट्रा कैरिकुलर एक्टिविटी में बेवफाई

का क्या काम ! बेवफाई तो एक्स्ट्रा करिकुलम में ही नहीं है। पर वापस लौट कर अपनी वफा का प्रमाण देने का प्रयत्न करता तो नाटक में नहीं—जीवन में भयंकर त्रासदी घट जाने की संभावना थी।

यह त्रासदी यहीं रुक जाती, तो भी रो धोकर मैं उसे भूल ही जाता। जब और इतनी झेली हैं, तो इसी की उपेक्षा क्या करते हो ? पर करनी विधाता की यह हुई कि उसी नाटक में एक खलनायक महोदय भी थे। जब तक नाटक-वाटक होते रहे, तब तक तो वे खाम भलेमानस बने रहे, पर जब मेरे साथ सारी त्रासदियां घट चुकीं, तो उन्होंने ताबूत में अंतिम कील ठोकी। उन महाशय ने हमारी नायिका से विवाह रचा लिया। अब साहब, लगी दुनिया हम पर थू-थू करने। 'देखो ! साला कैसा हीरो है, विलेन इसकी हिरोइन को उड़ा ले गया और यह खड़ा देखता रहा। न उसे गोली मार सका, न स्वयं मर सका।" मैं ने बहुत चाहा कि उन्हें समझाऊं, "यारो ! वह नाटक में विलन था तो क्या हुआ ! वैसे तो भला आदमी है। देश के संविधान के अन्तर्गत दी गई स्वतन्त्रताओं के अनुसार वह किसी भी कन्या से प्रेम करने अथवा विवाह करने को स्वतन्त्र है।" पर किसी ने मेरी नहीं सुनी। अपना ही बैंड बजाते गए

तब से आज तक, घोर आस्तिक भक्तों के समान ईश्वर से एक ही प्रार्थना करता रहा हूं कि "हे प्रभु ! ऐसी नाटकीय त्रासदी मुझ पर तो ढाई सो ढाई, अब और किसी पर मत ढाना।'

पर कहां मानता है वह ! हम नाटक के प्राम्प्टर के समान अपने डायलाग प्राम्प्ट करते रहे हैं, पर वह सुनता ही नहीं। पता नहीं उसने कोई स्क्रिप्ट याद कर रखी है, या इम्प्रोवाइज करता चलता है।

हुआ यह कि हमारी नाटकीय प्रसिद्धि ने दिल्ली में भी हमारा साथ नहीं छोड़ा। मैं तो एम० ए० में पढ़ाई कर अच्छा परीक्षा फल लाने के चक्कर में था, पर यारों ने घर पकड़ा। पकड़ा क्या साहब, नायक ही बना दिया। इस बार नायिका थी भयंकर तुनुकमिजाज। अच्छा खासा जानती थी कि मेरा प्रेम कहीं और चल रहा है, फिर भी मुझसे लड़ती ही रहती थी कि कहीं मैं उसके निकट जाने का प्रयत्न न करूं। बस, यहीं से दोहरी त्रासदी आरंभ हो गई। जिन्होंने उसे मुझसे झगड़ते देख लिया, उन्होंने

मुझे झगडालू घोषित कर दिया, "साला ! अपनी हिरोइन से भी झगडा करना है।' और जिन्होंने उसे मुझसे झगडते नहीं देखा—वे दूसरा भ्रम पालने लगे। इसी वर्ग मे मेरी अपनी सगी प्रिया भी थी। एक ओर नाटक के रिहर्सल चल रहे थे—दूसरी ओर मेरे जीवन की नाटकीय त्रासदियां। दिन भर मैं रिहर्सल में नायिका से लड़ता और शाम को कहीं एकांत ढूंढकर अपनी प्रिया के सामने नाक रगडता। बस साहब ! हम अब दुइ पाटन के बीच पिस रहे थे और साबुत बचने की कोई आशा नहीं थी।

मेरी प्रिया मुझ पर बेवफाई का आरोप लगा मुझसे दूर भाग रही थी और नायिका के प्रेमी महोदय मुझसे अपनी प्रिया की रक्षा करने के लिए मुझसे चिपकते जा रहे थे। परिणामत, जब वे नाटक मे और कुछ नहीं कर सके तो प्राम्प्टर बन गए। इससे कुछ तो निर्देशक महोदय संतुष्ट हुए और कुछ संतोष मुझे भी हुआ कि नायिका स्वयं को सुरक्षित पाकर मुझसे झगडा नहीं करेगी। उसके प्रेमी महोदय स्वयं घटना स्थल पर उपस्थित रहेंगे तो हमसे बदगुमानी नहीं पालेंगे। फिर प्रेमी के साक्षात उपस्थित रहने पर, रिहर्सलों के पश्चात न तो हमें नायिका को चाय पिलाने का दायित्व ढोना पड़ेगा और न उसे घर छोड़ने जाने का नैतिक कर्त्तव्य निभाना होगा। जिसकी ड्यूटी है, वह स्वयं बजाता फिरेगा। हम क्या बदर की बला अपने सिर लें

पर हम क्या जानते थे कि यह नाटक फिर मेरे साथ, हार्डी के उपन्यासों की त्रासदी करने जा रहा है।

एम० ए० करते करते ही नायिका और उसके प्रेमी का विवाह हो गया। और साहब ! मित्रों ने फिर मुझे शोक सदेश भेजने प्रारंभ कर दिए, "भाई ! क्या जमाना है। लोगों को दोस्ती का भी खयाल नहीं रहता।' कुछ लोगों ने मुझे ही दोषी पाया "तुम साले ! फिसड्डी ही रह गए। तुमसे तो प्राम्प्टर ही प्राम्प्ट निकला।" जब कभी मैंने किसी को समझाने का प्रयत्न किया, तो उसने प्रखर वक्रता से उत्तर दिया, "हां ! हां ! अंगूर खट्टे हैं।"

तंग आकर मैंने सोचा कि कुछ ऐसा करूं कि फिर नाटकीय त्रासदी मुझे न छू पाए। एक ही मार्ग सूझा कि जीवन की त्रासदी को अंगीकार

कर लूँ। बस—झटपट विवाह कर लिया। मैं अपनी ओर से बहुत संतुष्ट था कि मैंने नाटकीय नायिकाओं से मुक्त हो, अपने जीवन की नायिका को पा लिया है। पर सारा का दृष्टिकोण ही और था। उसका विचार था कि नाटक के प्राम्प्टर की नियुक्ति कर ली है। अब स्थिति यह है कि घर के भीतर जो कुछ बोलता हूँ, मेरी पत्नी मानती है कि मैं नाटक कर रहा हूँ, और घर से बाहर जो कुछ बोलता हूँ उसे यार लोग मेरी प्राम्प्टर की वाणी मानते हैं।

लिखते लिखते कलम रुकने लगी है। इसलिए नहीं कि रचना लंबी हो गई है। आशंका जाग उठी है, नाटकीय त्रासदियों की चर्चा करते करते कहीं जीवन की त्रासदी का मार्ग तो प्रशस्त नहीं कर रहा। जब पत्नी इन संस्मरणों को पढ़ेगी तो बखेड़ा नहीं मचाएगी, 'पहले तो कभी नाच नहीं खोली। मुझे धोखे में रख विवाह कर लिया। और अब बुढ़ापे में ससुर अपनी प्रेमकथाएं लिखने बैठे हैं।' इस आशंका के मारे इसी क्षण निर्णय कर लिया है कि संपादक महोदय से प्रार्थना करूँगा कि इस संस्मरण को प्रकाशित करें तो नीचे यह अवश्य छापें कि रचना के सारे पात्र काल्पनिक हैं। पर अपने संपादक भी क्या कम हैं? संपादकीय त्रासदियों के विषय में मैं फिर कभी लिखूँगा। पर इस समय तो यही भय सता रहा है कि अपनी टिप्पणी में उन्होंने यदि लिख दिया कि 'नरेन्द्र कोहली की इसी रचना के सारे पात्र काल्पनिक हैं, अन्य रचनाओं के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते', तो मैं अपनी अन्य प्रेम-कथाओं के विषय में क्या सफाई दूँगा। या उन्होंने अधिक कृपा की और लिख दिया कि 'इस रचना के, लेखक समेत सारे पात्र काल्पनिक हैं।' तो मैं अपने अस्तित्व की रक्षा कैसे करूँगा?

मुझे अपने जीवन की त्रासदियों का कोई अंत नहीं दीखता

4 साहित्यिक त्रासदिया

उन्होने मुझसे प्रार्थना की थी कि मैं उनके साहित्यिक समारोह की अध्यक्षता कर दू। अब आपको पता तो है ही कि अध्यक्षता करना कितना कठिन काम है। अध्यक्ष ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति होता है जिसे उस सभा मे बोला गया प्रत्येक शब्द सुनना पडता है। अध्यक्ष को उसकी कुर्सी पर बैठाए बिना सभा आरभ नही होती और अध्यक्ष द्वारा अपना व्याख्यान देते ही सभा समाप्त हो जाती है। यह वस्तुत भारतीय नाटक के नायक के समान होता है बहु व्याप्ति जिसका पहला गुण है।—अध्यक्ष अनादि और अनन्त तो नही होता, पर आदि से अत तक होता है। सभा म उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति किसी भी समय सभा को छोडकर जाने के लिए स्वतत्र है, किंतु अध्यक्ष को ऐसा कोई अधिकार नही है। उसके साथ कुछ और भी कठिनाइया हैं उसे सब देख सकते हैं पर वह किसी को नही देख सकता। प्रश्न उठाया जा सकता है कि इसमे बुराई क्या है? प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सब उसको देखें, वह किसी को न देखे, सब उसको सुनें, वह किसी को न सुने

यही से बडी कठिनाई आरभ हो जाती है। सभा म प्रत्येक वक्ता चाहता है कि अध्यक्ष उस सुने और वह अध्यक्ष को न सुने। इस प्रकार अध्यक्ष न तो वक्ता रह जाता है, न व्यक्ति। क्याकि न उसे कोई सुनता है न वह किसी को न सुनने की इच्छा पूरी कर पाता है।

देखने वाली प्रक्रिया म भी कुछ कठिनाई है ईश्वर सबको देखता है किंतु उसे कोई नही देख सकता। अध्यक्ष मे ईश्वर के विपरीत गुण हैं उसे सब देखते हैं, वह किसी को नही देखता। इस प्रकार वह ईश्वर का विरोधी तत्त्व है

इतना सब कुछ जानते-बूझते हुए भी प्रत्येक साहित्यकार अध्यक्ष बनने

को लालायित रहता है। अध्यक्षता के लिए मैं भी लालायित रहता हू, इसलिए सिद्ध हुआ कि मैं भी साहित्यकार हू।

उन्होने जब मुझसे सभा की अध्यक्षता की प्राथना की तो एक ओर मेरी लालसा उमडी घुमडी और दूसरी ओर ये सारी कठिनाइया मेरे सम्मुख घूम गईं। पर मैंने कठिनाइया की चर्चा उचित नही समझी। उसके भी कई कारण हैं पहली बात तो यह थी कि मैंने यह पाया है कि मैं किसी काय म सहयोग न भी दू तो भी वह काय पूरा हो जाया करता है और बाद मे मैं मेरा मुह चिढाया करता है। जिस पत्रिका मे मैं नही लिखता, उसका प्रकाशन कभी नही रुका। जिस सकलन मे रचना देना अस्वीकार करता हू, वह भी छप कर चर्चित हो जाता है। जिस गोष्ठी मे मैं नही जाता हू, वह भी हो ही जाती है। इन सारे तथ्यो का वैज्ञानिक विश्लेषण कर मैं इस निष्कष पर पहुचा कि यदि मैंने इस सभा की अध्यक्षता का तिरस्कार कर दिया, तो यह सभा भी अध्यक्षता के बिना हो ही जाएगी। मेरा कोई वहा नाम तक नही लेगा और कोई अय जन अध्यक्ष बनकर मालाए पहन, चित्र खिचवा यश लूट ले जाएगा। आजकल अध्यक्षो की कोई कमी है क्या ? जिसे देखो वही स्वय को अध्यक्षता के योग्य मान लेता है। है भी तो नान टैक्निकल जॉब। अध्यक्ष न हुआ गया, मत्री हो गया, जिसके लिए कोई योग्यता ही आवश्यक न हो। बनाने वाले भी जिसको चाहते हैं, पकड कर अध्यक्ष बना देते हैं। मैं न माना तो ये लोग किसी और को अध्यक्ष बना देंगे, इसलिए मुझे मान ही जाना चाहिए

यहा तक आकर, मैं अपने सोचे हुए पर पुनर्विचार करने के लिए थम गया और मैंने पाया कि मैं अत्यन्त घटिया किस्म के लीचड आदमी के समान सोच रहा हू। सिद्धातत तो मैं सहमत हू कि मुझे अध्यक्ष बन जाना चाहिए, किंतु उसके लिए मुझे कोई अच्छा-सा तक खोजना चाहिए। अध्यक्षता भी सडक पर गिरा हुआ नोट है जिसे मैं इसलिए उठा लेना चाहता हू कि यदि मैंने नही उठाया तो कोई और उठा ले जाएगा।

अध्यक्ष बनने के लिए अच्छा-सा तक खोजने मे मुझे कोई विशेष

परेशानी नहीं हुई। मैंने अपने-आपको समझाया कि मैं सरल, ईमानदार, यथार्थवादी स्टेट फारवर्ड और स्मार्ट वक्ता व्यक्ति हूं। ऐसे में सत्य को बड़ी ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए। सत्य की चुनौती को स्वीकार करना चाहिए। यदि मेरे मन में अध्यक्ष बनने की इच्छा है तो मुझे अपनी इच्छा के अतिरिक्त और कोई नक क्यों चाहिए? मैं कोई स्नाब हूं जो मन की भावनाओं का सीधे सच्चे ढंग से स्वीकार नहीं करूंगा!
बस साहब! मैंने तत्काल उन्हें स्वीकृति दे दी। वे भी प्रसन्न हो गए कि उन्हें एक अच्छा अध्यक्ष इतनी सुविधा से मिल गया है। वे इतने प्रसन्न थे कि मेरे घर में चाय पीने के लिए रुकना भी उन्होंने ठीक नहीं समझा।

अब मैं काइसिस आफ काशस जैसी किसी चीज में फंस गया था। पहली बार अध्यक्ष बन रहा था इसलिए अध्यक्षता के ठीक-ठीक तौर-तरीके मालूम नहीं थे। बात न तो मेरी इच्छा की थी, न शिष्टाचार की। बात तो कोड आफ कंडक्ट की थी या उसे क्या कहते हैं— प्राटोकोल। मुझे पहले यह मालूम होना चाहिए था कि जो लोग अध्यक्षता के लिए निमंत्रित करने आते हैं, उन्हें चाय पिलाई जानी चाहिए या नहीं। इस प्रकार के नियमों पर अभी कोई पुस्तक भी नहीं लिखी गई है, न संविधान, न कोश, न सचमुच हिंदी-साहित्य बड़ा दरिद्र है।

पर उन्होंने मुझे अधिक देर परेशानी में नहीं रहने दिया। वे तत्काल उठकर खड़े हो गए। कदाचित वे जाना चाहते थे। पर इस विषय में भी मैं बहुत निश्चित नहीं हूं कि जब कोई इस प्रकार उठ खड़ा होता है और जाने की अनुमति मांगने लगता है तो सचमुच वह जाना ही चाहता है। कई बार स्थिति इससे ठीक उल्टी होती है।

मेरे एक मित्र हैं। वे जब किसी के घर जाते हैं तो दस मिनट के भीतर-ही-भीतर उठ खड़े होते हैं और अपनी पत्नी से कहते हैं—"अब उठो भी। कब तक बैठी रहोगी?" गृहस्वामी बेचारा भौंचक सा मुंह खोले उनका मुखड़ा देखता रहता है और फिर कुछ इस प्रकार का वाक्य उसके मुख से निकलता है 'कमाल है! आए हो नहीं और चल पहले ही दिए। बैठो! बैठो! चाय पीकर जाना।' या 'खाना खाकर

जाना।"

मेरे मित्र महोदय न केवल बिना आनाकानी के बैठ जाते है, वरन अपनी ओर से अपने अभिप्राय को भी स्पष्ट कर देते है, "चलो, ठीक है। अब निश्चित होकर बैठ सकेंगे। वस्तुत मै इसी बात की पुष्टि कर रहा था कि चाय या खाना, कुछ मिलेगा भी या नही।"

तो अब ये लोग खडे थे। क्या चाहते थे वे ?

मैंने बड़े भीरु से स्वर मे पूछा, "चाय नही पीएगे ?"

वे बडी प्रसन्न मुद्रा म बोले, "चाय तो सब जगह मिल जाती है, अध्यक्ष ही नहीं मिलते। आपके यहा अध्यक्ष मिल गए। चाय हम कही और पी लेंगे।"

उन्होने हाथ जोडे और वे सचमुच चले गए।

उस दिन से सभा के दिन तक का समय मेरे लिए बडी यातना का समय था। मुझे कई मोर्चों पर एक साथ लडना पड रहा था। एक ओर मैं अपने अध्यक्षीय भाषण की तैयारी के लिए अनेक विश्वकोश उलट पलट गया (उन्ही दिना मुझे ससार की सारी भाषाओं के कगले होने का बुद्धत्व प्राप्त हुआ। किसी भी भाषा मे मुझे अध्यक्षीय भाषण कोश उपलब्ध नही हो सका) और दूसरी ओर मैं निरतर याद करने का प्रयत्न करता रहा कि हमारे समाज के प्रसिद्ध दक्ष (स्किल्ड) अध्यक्षो ने विभिन्न अवसरा पर किस प्रकार का व्यवहार किया था। एक अध्यक्ष तो अपने साथ एक अध्यक्षीय सहायक भी लाए थे। वह सचेत तथा सजग मुद्रा मे उनकी अध्यक्षीय कुरसी के पीछे खडा था। सयोजको ने जैसे ही उन्हे पुष्पमालाए पहनाईं, वे अभ्यस्त अधरों से मुस्कराए और दक्षतापूर्वक माला उतारकर उन्होने कुरसी के पीछे खडे सहायक को पकडा दी—जैसे वे इस नाटक का रिहर्सल अनेक बार कर चुके हो।

एक अन्य अध्यक्ष की भी याद मुझे आती है। वे कदाचित् इस प्रक्रिया के लिए तैयार होकर आए थे। अत जब सयोजका ने उन्हे माल्यार्पण किया तो वे बेचारे विज्ञापनो की न्यून लाइट के समान पलकें झपकाते और जलते बुझते नजर आए। उन्होंने बडी हसरत से अपने कठ मे सुशोभित पुष्पमालाओ को देखा और फिर शिष्टाचार के कर्तव्य मे बधे

हाथो से उन्हें उतारकर अपने सम्मुख, मेज पर रख लिया। वे बेचारे सभा में हो रही कारवाई का एक शब्द भी नहीं सुन सके। सारा समय करुणा भरी आंखो से मेज पर पड़ी उन मालाओं को देखते रहे। उनकी मुद्रा देखते ही मैं समझ गया कि उनका हृदय फायर ब्रिगेड के घंटे के समान निरंतर टनटना रहा है, 'सब माल पड़ा रह जाएगा ' बेचारे अत्यन्त व्याकुल थे कि ये हार यहीं पड़े रह जाएंगे और उन्हें सिकंदर के समान यहां से खाली हाथ जाना पड़ेगा। घर जाकर अपनी पत्नी और बच्चों को कैसे विश्वास दिलाएंगे कि उनको भी माल्यार्पण हुआ था।

मैं भी बड़े विकट द्वन्द्व में था कि मालाएं उठाने के लिए अपने साथ अध्यक्षीय सहायक ले जाऊं या नहीं अंततः इस अस्पष्ट समस्या का मैंने एक अस्पष्ट सा समाधान ढूंढा। अपने कुछ कनिष्ठ मित्रों से कह दिया— "उस सभा में आ जाना, हो सकता है, कोई काम निकल आए।" काम न उन्होंने पूछा न मैंने बताया।

यह समाधान खोज लेने के बाद भी मैं निश्चित नहीं हो सका। मुझे लगता है कि मेरे भीतर कहीं एक गहरा संशय छिपा हुआ है। मैं मान ही नहीं पाता कि मेरा कोई काम ठीक ठाक पूर्ण हो जाएगा। अब जब, अध्यक्षता के लिए मैंने सारी तैयारी कर ली है—अध्यक्षीय भाषण तैयार कर लिया है, अध्यक्षों के तौर-तरीके सीख लिये हैं अध्यक्षीय पोशाक सिलवा ही नहीं ली धुलवाकर इस्त्री भी करवा ली है, फूलमालाएं उठाने के लिए सहायक भी निश्चित कर लिये हैं, तो मुझे लगता है कि वह सभा ही स्थगित हो जाएगी। मैंने बीच में दो-दो बार फोन करके भी पूछ लिया कि सभा निश्चित तिथि को ही हो रही है न ! जब प्रत्येक बात की पुष्टि हो गई तो मैं भी निश्चित हो गया। और यहीं वह त्रासदी घट गई।

निश्चित समय से कुछ पहले ही मैं सभा स्थल पर पहुंच गया। मन ही मन बड़ा प्रसन्न था कि अध्यक्ष होने के नाते मैं ही सबसे पहले आया हूं। मैं यह मानता हूं कि जो भी काम करना हो, पूरी गंभीरता से करना चाहिए। आधे मन से किया गया कार्य व्यर्थ होता है इसी सिद्धान्त के अनुसार अध्यक्ष को सभा में सबसे पहले आना चाहिए और सबके बाद जाना चाहिए। जाने की बात तो अभी मैं नहीं जानता था, किंतु आ मैं सबसे

पहले गया था। इस प्रकार सफल अध्यक्ष की पचास प्रतिशत भूमिका मैं निभा चुका था।

जैसा कि होना चाहिए था, लोग देर से आए। जो जो लोग मुझे पहचानते थे (और उस दिन मुझे बहुत अधिक लोग पहचान रहे थे), उन्होंने झुक झुककर नमस्ते, नमस्कार और प्रणाम किया। मैं भी मुस्करा-मुस्कराकर उनके अभिवादना का उत्तर देता रहा। सयोजका ने बड़े आग्रह से मुझे सबसे अगली पक्ति म ला बैठाया। और क्या न बैठाते। वहा से मच तक जाने मे सुविधा रहती।

और साहब, कारवाई आरभ हुई। सयोजक ने अध्यक्षता के लिए नाम पुकारा और मैं उठते-उठते बैठ गया। अध्यक्षता के लिए पुकारा जाने वाला नाम मेरा नही था। मैं मुह खोले, सयोजक को ताकता रहा—वह बौरा तो नही गया। मेरे स्थान पर किसी और का नाम कैसे पुकार दिया गया? पर वही सत्य था। दूसरे सज्जन ने आकर अध्यक्षीय पद को सुशोभित किया और सयोजक चेहरे पर बेशम मुस्कान चिपकाए उनकी चिरौरिया करता फिरा

मैं ऊट के समान गदन उठा उठाकर उस व्यक्ति को खोजता रहा, जो मुझे अध्यक्ष बनने का निमत्रण देने गया था। थोड़ी-सी परेशानी के बाद वह मुझे मिल भी गया। मैंन सोचा था वह आखें चुराकर भाग जाएगा। पर वह तो सीधा मेरी ओर बढ आया। ठाठ से नमस्ते कर मेरे साथ वाली कुर्सी ही पर बठ गया और नि सकोच बोला, "कैसे है आप?"

अब मुझसे रहा नही गया। बोला, "आप तो मुझे अध्यक्षता के लिए निमन्त्रित करके आए थे।"

"जी हा!' वह निद्वन्द्व भाव से बोला, "आपने इतनी सरलता स स्वीकार कर लिया कि मैं तभी समझ गया था कि आप इस विषय म तनिक भी गभीर नही हैं। जो लोग गभीर होते है, वे ऐसे ही मान जाते हैं क्या?" वह हसा, "मैं अध्यक्षो के चोचले खूब समझता हू साहब।" वह हसता हुआ उठकर चल दिया।

तब से सकल्प कर लिया है कि जब भी कोई अध्यक्षीय निवेदन करने

आएगा उसे कठोरता से मना कर दूगा। पर डरता हू उस स्थिति म भी जब अध्यक्ष बनने के लिए सभामडप मे पधारूगा, किसी और को अध्यक्ष पद सुशोभित करता पाऊंगा। तब भी सयोजक महोदय बडे मुहफट ढग स कहग, "आपने तो अध्यक्षता करने से मना कर दिया था "

अध्यक्ष बनना मरे भाग्य म ही नही है शायद।

λ

नहीं है।

मेरे बचपन मे पहली त्रासदी तो यह घटी कि जब मैंने जन्म ग्रहण किया तो सयोग से मेरे घर मे सब लोग, मुझसे बडे थे। अर्थात अपने परिवार मे मैं तब तक सबसे छोटा रहा, जब तक परिवार मे एक और बच्चे का जन्म नही हो गया। इस तथ्य का तार्किक एव वैज्ञानिक परिणाम यह हुआ कि जो काल मेरा बचपन था, वह मेरे परिवार के अन्य सदस्यो का बचपन नही था। इसका फल यह हुआ कि जिस काल को मैं *भूल गया हू—घर के अन्य सदस्य नही भूले हैं।*

इससे बडी त्रासदी और क्या होगी कि कर्त्ता तो मैं हू, किन्तु मैं ही नही जानता कि मेरे बचपन की क्या क्या उपलब्धिया हैं। और परिवार के अन्य सदस्य ही नही गली मुहल्ले के दुकानदार भी यह बता-बताकर नित्यप्रति मेरा ज्ञान बढाते रहते हैं कि अपने बचपन मे क्या कहता था, क्या करता था, क्या पहनता था, क्या खाता था, क्या

कहकर ही मुक्ति द देते तो भी भर पाता, पर यह क्रम तो बहुत लबा खिचा है। अपने विवाह के पश्चात अपनी ही रिसेप्शन मे बन सवर कर अपनी पत्नी के साथ सुशोभित हो रहा था। रिश्तेदारो स अपनी पत्नी का परिचय करा रहा था, जो अब उसके भी रिश्तेदार होने का दावा कर रहे थे। पर सहसा क्रम बदल गया। एक साहब, जो खासे अपरिचित-से लग रहे थे, मेरा ही परिचय देने के लिए आगे बढ आए, " यह जो अब साहब बना बैठा है न, जब आगन मे हाथ-पैरो के बल रेंगता हुआ आकर मेरी गोद मे चढ जाता था, तो मेरे सारे कपडे गदे कर डालता था।"

मन तो नही मानता था कि इस गदे गलीज आदमी की गोद कभी चढा भी होऊं, पर ये घोषित रूप स कह रहे थे और मैं अपने बचपन की विस्मृत त्रासदी के कारण ऊद बिलाव के समान उन्हें देख-देखकर अपने दातो की प्रदर्शनी कर रहा था

मेरे परिवार के पास एक दो पुराने चित्र हैं। उनमे स एक को हमारा पारिवारिक चित्र बताया जाता है। पारिवारिक चित्र, पारिवारिक हवेली जैसी चीज नही है, जिसे देखकर आप उसमे रहने को तैयार हो जाए।

वैसे मुझे इसमे भी बहुत सदेह है कि आप पारिवारिक हवेली मे भी रहना चाहेगे। पारिवारिक हवेलियो को मैंने अधिकाशत गोदाम बनते देखा है, या उनमे ढगर बाधे जाते हैं।

मैं पुराने चित्रो की बात कर रहा था। एक चित्र को हमारा पारिवारिक चित्र बताया जाता है। 'बताया जाता है वाक्य-खड, मेरी शैली का अग नही है—यथाथ वक्तव्य है। वह मेरे परिवार का चित्र है और मैं उसके किसी सदस्य को नही पहचानता। उस चित्र म एक तो अच्छा-खासा जवान और सुन्दर जोडा है—जरा पुराने फैशन का। मुझे बताया गया है कि वे मेरे माता पिता है। आज मेरी मा का चेहरा उस युवती से तनिक भी नही मिलता। वैसे शक्लें मिलाने मे मैं विश्वसनीय हू भी नही। अपने एक सहकर्मी को हसते हुए देखता था, तो हर बार यही लगता था कि ऐसी हसी कही देखी है। पर कहा देखी है—याद ही नही आता था। उनकी हसी को देख देखकर पूरे दो वप मैं परेशान होता रहा। अन्त मे अपनी घटिया स्मरण शक्ति के बावजूद मैं यह याद करने म सफल हो गया कि वह हसी किस से मिलती है। वस्तुत वह हमारे पडोसी के बैल की हसी से मिलती जुलती निकली। तभी से मुझे पूण विश्वास हो गया है कि मनुष्य तथा पशु मे परमात्मा का अश समान रूप से विद्यमान है। अभी तक ऐसा हुआ तो नही है, पर मुझे लगता है कि बहुत जल्दी ही मुझे अपने पडोसी के बैल की शक्ल अपने सहकर्मी से मिलती जुलती लगने लगेगी।

मैं अपने पारिवारिक चित्र की बात कर रहा था। मेरी मा कहती हैं तो ठीक ही कहती होगी कि वह सुदर युवती स्वय मेरी मा ही हैं। यही बात पिताजी को लेकर भी है। अपने बचपन को भूल जाने के कारण, अब तो ऐसा ही लगता है कि मेरे माता पिता सदा से ऐसे ही बूढे रहे होगे। पर उनका आज भी यह दावा है कि वे जन्म से बूढे नही है। पर मेरे बचपन की त्रासदी यह नही है कि मेरे माता पिता अपनी जवानी मे अपने बुढापे से सुदर थे। त्रासदी कुछ और ही है

उस चित्र मे दो-तीन मोटे-थुपले बच्चे हैं। बताया जाता है (विश्वस्त सूत्रो से ज्ञात होने की शैली मे) कि ये मेरे बडे भाई-बहन हैं। वैसे तो मैं

उन्हें भी पहचानता नही हू, क्योकि मेरे वतमान भाई-बहिन वैसे नही हैं, पर उन्हे अपने भाई-बहिन मानने म मुझे कोई आपत्ति नही है। आपत्ति उससे आगे की बात पर है। उस चित्र मे मेरी मा की गोद मे एक बदसूरत और मरियल-सा बच्चा है, जिसने बस एक बेढब-सा झगला पहन रखा है। मेरे परिवार वालो का गर्व भरा दावा है कि वह बच्चा मैं हू। अस्मिता की पहचान का यह ढग मुझे बहुत गलत लगता है। वे कहें और मैं मान लू—इसके लिए मैं तैयार नही हू। *सारी महाशक्तिया हमारा जो रूप हमसे मनवाना चाहती हैं, उसके लिए हम एकदम तैयार नही हैं।* मुझे चित्र मे बचपन की उस शक्ल-सूरत तथा वेश भूषा पर सख्त आपत्ति है। आप मेरा विश्वास कीजिए, मुझे अपनी वैसी शक्ल-सूरत तथा वेश भूषा रत्ती भर भी याद नही है। उस बच्चे म रच-मात्र भी तो सुरुचि नही है, *पर मैं मानने को बाध्य हू कि वह मैं हू। यह तो कुछ-कुछ वैसा* ही है कि एक खोपडी बेचने वाला एक छोटी-सी टूटी फूटी खोपडी बेच रहा था। वह यह कहकर बहुत ऊचा मूल्य माग रहा था कि यह खोपडी एक महापुरुष की खोपडी है। जब किसी ने आपत्ति की कि एक महापुरुष की ऐसी घटिया खोपडी कैसे हो सकती है तो उसने उत्तर दिया कि *यह उस महापुरुष की बचपन की खोपडी है।*

वह तो खोपडी बेचने वाला था। यहा तो मेरे अपने परिवार के लोग सिद्ध करने पर तुले हैं कि वह घटिया शक्ल सूरत मेरे बचपन की शक्ल-सूरत है। अब इससे बडी त्रासदी और क्या होगी?

मेरे विषय मे कुछ और भी ऐसी ही बातें है, जिन्हे लोग बिलकुल सच मानते हैं, और मेरे पास उनके प्रतिकार का कोई उपाय नही है। बुरा हो मेरी विस्मरण शक्ति का। अब मेरी वृद्धा मा ही बार-बार कहती हैं कि मैं जब छोटा था तो दुबला पतला, बीमार और रोना बच्चा हुआ करता था। चलो, हुआ करता था तो हुआ करता था। इस देश के सारे ही बच्चे दुबले पतले, बीमार और रोने होते हैं। यह तो मेरी राष्ट्रीयता का प्रमाण-पत्र हुआ। इसमे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? यदि ऐसा न होता तो परेशानी हो सकती थी। हमारे एक परिचित का बच्चा ऐसा नही था, वह गोरा चिट्टा, हृष्ट पुष्ट बच्चा था। उसके जन्म पर लोग बधाई देने

आए तो एक सज्जन प्रसन्न होकर बोले, "साहब ! आपका बच्चा तो एकदम अंग्रेज है।" बच्चे के पिता उद्विग्न हो उठे। पर स्वयं को संयत कर बोले, "मैंने तो आपकी पत्नी के चरित्र पर कभी संदेह नहीं किया।"

उस समय उस गोरे चिट्टे, घुघले-से बच्चे का वह बाप निश्चित रूप से सिर धुन रहा होगा कि उसका बेटा भी काला-कलूटा, दुबला पतला, चिड़चिड़ा और रोना क्यों न हुआ। मेरे साथ यह समस्या नहीं थी। मेरे बचपन की त्रासदी दूसरी ही है। मेरी मां का कहना है कि मैं सदा उनका पल्लू थामे थामे उनके आगे पीछे घूमता रहता था। सदा मां से ही चिपका रहता था—उन्हें छोड़ता ही नहीं था।

उस बचपन तक तो यह बात ठीक थी, जिसे मैं भूल चुका हूं, पर बड़ा होकर यह तथ्य मेरे जीवन की आरंभिक त्रासदियों में बहुत प्रमुख हो उठा है। मेरी नैतिकता मुझे सदा ही दंशित करती रहती है। कैसा चरित्रहीन था मैं कि पराई स्त्री का पल्लू थामे-थामे उसके आगे पीछे घूमता रहता था। और यह आरोप स्वयं मेरी मां मुझ पर लगाती हैं। मां की बात का प्रतिवाद तो वैसे ही नहीं करना चाहिए और यहां तो मेरी विस्मरण शक्ति भी मुझे रोके हुए है। मेरे पास ऐसे आरोपों के प्रतिवाद का भी कोई उपाय नहीं है। इस आरोप को लेकर बहुत दिनों तक मैं अपनी अंतरात्मा के क्राइसिस से पीड़ित रहा हूं। पर इधर कुछ राहत मिली है नहीं ? मैं नये बजट में मिली राहतों की बात नहीं कर रहा। मैं तो नये ज्ञान से मिली राहत की बात कर रहा हूं। मेरी नैतिकता ने मुझे बताया है कि पर-स्त्री को मां की दृष्टि से देखना चाहिए। इस दृष्टि से देखने में कोई दोष नहीं है। मेरे जीवन के आरंभिक दिनों के इन तथ्यों की पुष्टि, मुझे लांछित करने वाली मां भी करती हैं, कि मैं अपने उन्माद की उस अवस्था में भी उन्हें मां की दृष्टि से ही देखा करता था जान बची तो लाखों पाए।

और अब, जब अपनी स्त्री का पल्लू पकड़े-पकड़े घूमना चाहता हूं तो वह दूसरा ताना देती है, "छोड़ो मेरा पल्लू ! मैं क्या तुम्हारी मां हूं !" इसीलिए कहता हूं न कि मेरे परिवार वालों ने मेरी पत्नी को मेरे जीवन-इतिहास के उस अंधकार-युग के विषय में उलटा सीधा बताकर अच्छा

नहीं किया। बचपन की त्रासदी से तो उबर आया हूं, पर अब आज की त्रासदी से कैसे उबरूंगा। लोगों का कहना है, "कैसा पुरुष है अपनी स्त्री का पल्ला पकड़े नाचता रहता है।" मेरी नैतिकता पर स्त्री को देखने की दृष्टि के विषय में स्पष्ट आदेश देती है—पर अपनी को देखने के लिए वह कोई दृष्टि ही नहीं देती।

6 त्रासदिया अनिवार्य सेवा की

सवेरे नीद खुली तो देखा, काफी देर हो चुकी है। समझ गया, गीता का कर्म सिद्धात एकदम सत्य है। रात को देर से सोया था, इसलिए प्रात देर स उठा। पर कर्म-शृखला यही पूरी नही हुई। उसका प्रभाव दूर तक चलता चला गया। कुछ सिर भारी था और कुछ समय अधिक खिसक गया था।

आखो मे प्रेम के सागर उडेलकर पत्नी से कहा, "प्रिये! आज दूध लेने नही जा सकूगा।"

पर यहा कर्म सिद्धात ने काम नही किया, प्रेम के बदले मुझे प्रेम नही मिला। पत्नी की आखो मे मुझे न्यूटन का क्रिया और विपरीत क्रिया का सिद्धात कार्य करता दिखाई पडा।

वह नाराज होकर बोली, "तो क्या बच्चे भूखे रहेगे?"

मन मे आया कि कह दू कि दूध न पीने का अर्थ भूखे रहना नही होता, और यदि रह भी लेंगे तो आसमान नही गिर पडेगा—ससार के लाखो-करोडो बच्चे प्रतिदिन एक समय भूखे रहने को बाध्य हैं। यह वैज्ञानिक सत्य है। पर मैं यह भी जानता था कि वैज्ञानिक सत्य पत्नी के सम्मुख कभी नही कहना चाहिए। और फिर उसम कही अधिक राष्ट्रीय भावना है। देश की अगली पीढी को भूखे रखने की सलाह मैं कैसे दे सकता था?

दूसरा मार्ग ढूढा, "वे भूखे नही रह सकते, तो क्या मैं अपने प्राण दे दू?"

"अगली पीढी के निर्माण के लिए प्राण देना हमारा राष्ट्रीय दायित्व है।' वह बोली, "ऐसे लोग ही शहीद कहलाते हैं।"

"तो मैं हडताल पर हू।" मुझे वह शोषक उद्योगपति दिखाई पडने

लगी थी।

"तुम दूध लाने की हड़ताल नहीं कर सकते।" वह टस-से मस नहीं हुई।

"क्यों ?"

' दूध अनिवार्य सेवा के अंतर्गत आता है।"

मुझे याद आ गया कि फेरों से पहले ही उसने कैकेयी के समान मुझसे वरदान ले लिया था कि घर में अनिवार्य सेवाओं को अस्त व्यस्त करने का अधिकार मुझे नहीं होगा। मैं वरदान देने को, दशरथ और स्वतंत्र भारत के राजनीतिक नेताओं के समान आतुर था—उसकी वर माला जो चाहिए थी। पर, वरमाला गले में पहन लेने के बाद मैं उन्हीं दोनों के समान, वरदान को भूल गया था। 'वर' द्वारा दिया गया दान' ही वरदान' है, और कहते हैं न, कि दान करके भूल जाना चाहिए, सो यही मैंने किया था।

'मेरे ही वरदान में बांधकर मेरी जान लोगी क्या ?" मेरी आंखों के सामने कैकेयी के चरणों पर सिर पटकते हुए दशरथ का चित्र उभर आया था।

' तुम्हारी जान तो मैं हूं।" वह रसिक कूटनीति से मुस्कराई, "जान लेने और देने का प्रश्न ही कहां है ?"

'अब परिस्थितियां बदल गई हैं। क्या हम अपने घर के संविधान में परिवर्तन नहीं कर सकते ?" मैं कातर हो आया था।

'संशोधन तो देशों के संविधान में होते हैं।" वह तनिक भी विच-लित नहीं हुई, ' घरेलू संविधान इतना कच्चा और अपूर्ण नहीं होता।"

"यहां गणतंत्र नहीं है क्या ?" मैंने विवाद उठाया।

"गणतंत्र ही है।" वह बोली, 'दो तिहाई बहुमत से संशोधन हो सकता है।"

दो सदस्यों के सदन में दो तिहाई बहुमत नहीं हो सकता था। मैं पत्नी के अध्यादेश की शक्ति को समझ गया।

मैं बंधा बंधाया, जाकर दूध ले आया। अपनी खीझ को चाय के कप और ताज़ा समाचारों में डुबोने का प्रयत्न करने के लिए समाचार पत्र

उठाया ही था कि आदेश हुआ, "बच्चों को बस स्टैंड पर पहुंचाकर आओ। स्कूल बस के आने का समय हो गया है।"

जला भुना मैं बच्चों को बस स्टैंड तक पहुंचाकर ही नहीं आया, बल्कि लौटते हुए बाजार से साग-भाजी भी लेता आया—जानता था, यह भी अनिवार्य सेवा ही है और संविधान में बड़ी शक्ति है।

कहते हैं न कि भगवान के घर में देर है, अंधेर नहीं। मैंने जो अपनी आंखों में प्यार के महासागर भर कर पत्नी की ओर देखा था, उस कर्म का फल अगले दिन फला।

दफ्तर से लौटकर देखा—आज न केवल पत्नी की आंखों में प्रेम के महासागर की शरदपूर्णिमा का स्वरूप उमड़-घुमड़ रहा था, बल्कि अपने प्रेम को रेखांकित करने के लिए वह सोलहों श्रृंगार किये बैठी थी। यह तो निष्काम की तरह फला, अर्थात मूल के साथ ब्याज भी मिल रहा था।

"कहीं जाने की तैयारी है क्या ?" मैंने पूछा।

उसकी मुस्कान सरकारी प्रचार के समान चारों ओर शांति बरसा गई।

"आज मेरा जन्म दिन है न।"

'ओह! मेनी हैप्पी रिटर्नस ऑफ द डे।" मैं बोला, "सोलह वर्ष की हो गई तुम ?"

'हां! आज तीन सोलह पूरे किए हैं।"

"तो ?" मैंने अपनी नित्य षोडशी प्रिया की ओर देखा।

"आज खाना बाहर खाएंगे।' वह बोली।

मुझे लगा कर्म सिद्धांत केवल मेरे लिए ही नहीं है। वह उस पर भी लागू होता है। उसके भी कल के कर्म आज फल रहे थे।

"मैं बाहर खाना नहीं खाऊंगा।" मैं अपना सत्याग्रह ध्वनित करता हुआ बोला, 'बाहर के खाने से मेरा पेट खराब हो जाता है।"

शूर्पणखा के ही समान अपना वास्तविक रूप प्रकट करने में उसे क्षण भर भी नहीं लगा, "तो आज भूखे ही रहना पड़ेगा।"

"क्या मेरी अन्नपूर्णा ?"

"घर मे खाना नही पकेगा।" वह कठोर स्वर मे बोली।

"हडताल ?"

"हा ! हडताल !"

"यह अनिवाय सेवा है।" मैं अत्यत निश्चित स्वर मे बोला, "इसे तुम अस्त व्यस्त नही कर सकती।" मैंने उसी के अध्यादेश मे उसे बाध लिया था।

पर वह बधी नही। वह खिलखिला कर हस पडी, "बडे भोले हो ! वर तुमने मुझे दिया था, मैंने तुम्हें नही दिया था।"

"तो क्या सविधान दोनो पर लागू नही होता ?" मैंने विवश जनता के-से याचना भरे स्वर मे पूछा।

"कभी सरकार भी अपने अध्यादेशो मे बँधी है ?" उसने मुस्करा कर पूछा।

मैंने अपील नही की। उस शाम खाना हमने बाहर ही खाया।

7 त्रासदिया राष्ट्र-प्रेम के दुख की

देश के पिछडेपन से वे अत्यत दुखी हैं।

उनका दु ख देखकर मेरी कल्पना शक्ति पर्याप्त उवर हो उठी थी। प्राय हो जाया करती है। लोगो ने इसी उवरता मे बडे बडे महाकाव्य रच दिए हैं। पर मेरी कल्पना उनके दुख के भविष्य तक ही सीमित रही। महाकाव्य अनरचे हो रह गये मुझे ऐसा लग रहा था कि अकेले होते ही, इस पिछडे देश मे ज म लेने के उपलक्ष्य मे वे सिर धुन धुनकर पछताने लगेंगे। उतना तो शायद न धुनें, जितना धुनिया रुई को धुनता है। पर फिर भी फश अथवा दीवार पर सिर तो पटक ही सकते हैं। उ होने उर्दू का वह शेर तो पढा नही होगा—

"हर सग बे याज़े गम नही,
देख, हर दीवार से तू सर न मार।"

भेजा उनका वैसे ही पिलपिला है। पटकने से फट भी सकता है। सिर फोडना उनके लिए कोई नयी बात नही है। पर अब तक उ होने दूसरो के ही सिर फोडे हैं—इस समय बात उनके अपने सिर की चल रही है।

उनका दु ख देखा नही जा रहा था, पर अनदेखा भी कैसे करता! किसी के दुख को अनदेखा करना मत्रीपद का विशेषाधिकार है, और मैं न मत्री था, न हू और न हूगा एक बार तो लगा कि उनके दुख का ग्राफ सिर फोडने से आत्महत्या की ओर जा रहा है। इस विचार स मैं ऐसा बधा, जैसे जीव माह में बध जाता है। किंतु ज्ञान ही मेरे आडे आया। उसने मेरे मोह के बधन काट दिये। मुझे अपने देश के राजनीतिज्ञो की नस्ल की प्रकृति याद आ गयी। आत्महत्या का कारणभूत लज्जा तत्त्व उनमे है ही नही। मैंने स्वय को समझा लिया कि आत्महत्या वे नही

करेंगे। उनके दुख से मुझे मोक्ष मिल गया।

उनके दुख से छूटा, पर उनकी संगति से नहीं। जब बैठा ही था तो सोचा, कुछ समय बातचीत ही कर ली जाये। शायद बातचीत मे ही कोई समाचार बन जाए। हमारे समाचारपत्रो के लिए राजनीतिज्ञो की बातें ही तो 'समाचार' होती है।

'आपको क्यो लगता है कि हमारा देश पिछडा हुआ है ?" मैंने साक्षात्कार लेने की मुद्रा मे उन्हे कुरेदा।

"जिस देश की राजधानी इतनी पिछडी हुई हो, वह देश पिछडा हुआ नही होगा ?" उन्हाने तमककर सूत्र शैली मे पूछा। महात्मा गाधी के युग के पश्चात् से राजनीति मे सूत्र का सबध चरखे से नही, शैली से ही रह गया है।

"राजधानी कैसे पिछडी हुई है ?" मैंने कुछ न समझते हुए प्रश्न किया।

"पिछडी हुई नही है ? आसाम मे बाढ भी आ गई और दिल्ली म अभी वर्षा की चार बूदें भी नही पडी ।"

"तो इसमे पिछडापन ?" मैंने पूछना चाहा।

"पिछड नही गई ?" वे नाराज थे, "वर्षा होगी तो बाढ आएगी न! जो नगर वर्षा मे पिछड गया, वह बाढ मे भी पिछडेगा ही।"

मैं सहम गया। पिछडेपन का यह उदाहरण तो अद्वितीय था। बाढ मे पिछडना इस दृष्टि से तो बडे बडे विकसित देश भी हमसे पिछडे हुए हैं पर मैं बातचीत मे पिछडना नही चाहता था

"आप चाहते हैं, दिल्ली म बाढ अवश्य आए ?"

"बाढ नही आएगी तो राहत कार्य कैसे होगा ?" वे मुझे डपटते हुए से बोले, "चुनाव की घोषणा नही होगी तो उन्हे स्थगित कैसे किया जाएगा ?"

मेरे मन मे ऊहापोह होने लगी। इस व्यक्ति का मन बाढ मे डूबा है या चुनाव मे ? 'ऊहा' कह रही थी, यह राजनीतिज्ञ है, इसका सबध बाढ से हो न हो, राहत-कार्य से अवश्य होगा। राहत-कार्य बिना कोश के नही होता, और कोश बिना राजनीतिज्ञ के नही होता। अपने देश मे

विद्वानो के लिए है—शब्दकोश। धन का कोश तो राजनीतिज्ञो के लिए ही है' किंतु 'पोह' कह रहा था, 'इसका सबध चुनाव से है। अत वोटो की बाढ की बात तो इसकी समझ मे आ सकती है, पानी की बाढ से इसका कोई सबध नही है।' मैंने दोना मे समझौता करा दिया। मान लिया कि राजनीतिज्ञ है तो इनका सबध प्रत्येक वस्तु से होगा। अस्पताला और विश्वविद्यालया का उदघाटन इन्ही के करकमला से होता है और श्मशाना और कब्रिस्तानो का भी। यदि किसी पचवर्षीय योजना मे द्यूतालय और वेश्यालय खुलते तो उनका उद्घाटन भी ये महानुभाव ही करते

"तो आपका विचार है," मैंने उन्ही की बात आगे बढाई, "कि चुनावो की घोषणा हुई है तो अब उन्हें स्थगित भी किया जाएगा?"

"अरे, ये क्या खाकर स्थगित करेंगे।" वे अपनी अप्रसन्न मुद्रा मे बोले 'पिछडा हुआ देश हर बात म पिछड जाता है जिन्ह स्थगित करना था वे कर भी चुके। पाकिस्तान हाकी और क्रिकेट मे ही हमसे आगे नही बढा, राजनीति मे भी बढ गया है।'

"तो आप चाहते हैं कि चुनाव स्थगित हो?" मैं उनकी बात से ऐसा भौचक्का हुआ था कि मुझे काम का कोई प्रश्न ही नही सूझ रहा था।

"क्यो! हम क्या पागल कुत्ते ने काटा है कि ऐसा चाहगे! ऐसा तो हम तब चाहते थे, जब ससद भग नही हुई थी। कोई बेरोजगार क्यो चाहेगा कि रोजगार-कार्यालय बद कर दिए जाए।" कुछ सोचकर उन्होने अपना सिर हिलाया, "पर स्थितिया बदलती हैं। भविष्य मे हम ऐसा तब चाहेंगे, जब हम कामचलाऊ सरकार मे मत्री होगे। हम तो डके की चोट कहते हैं कि एक बार हम मत्री बना दो, फिर चाहे चुनावा को स्थगित कर दो।"

"पर देश का पिछडापन "

'पिछडापन तो पिछडापन ही है।" वे झपटकर बोले, "जो काम, दूसरे पहले कर जाए और हम पीछे रह जाए—उसमे हम पिछड़े हुए नही

कहलाएंगे ? जापान पर अणबम गिरा तो वह कितना आगे बढ गया। हम एक बार पिछड गए तो पिछड ही गए न ?"

"तो आप इस पिछड़ेपन को दूर करने के लिए क्या करना चाहते हैं ?" मैंने श्रद्धानत होकर जिज्ञासा की।

"करना कराना क्या है।" वे बोले, "इसको लेकर ही तो हम दूसरों से भिन्न हैं। यदि हम भी आगे बढ गए तो अन्य देशों से हमारी विशिष्टता ही क्या रह जाएगी। यह हमारी राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न है। हम उसे मिटने नहीं देंगे। अंतिम सांस तक अपने पिछड़ेपन की रक्षा करेंगे। अपने देश में हम अनेक जातियों और प्रदेशों के पिछड़ेपन की—उनकी पृथक और विशिष्ट संस्कृति के नाम पर—रक्षा कर रहे हैं।

"ऐसे तो देश सदा ही पिछडा रहेगा !" मैं बोला।

"पिछडा है तो पिछडा रहे।" वे बोले, "अब तुम्हारी प्रगतिशीलता के चक्कर में हम अपने देश की अस्मिता मिटा दें ? ऐसा नहीं होगा !" उनका स्वर इतना ऊंचा हो गया, जैसे वे लाल किले की प्राचीर पर से भाषण दे रहे हों, "मैं तो अपना चुनाव देश की अस्मिता के प्रश्न पर लड़ने वाला हूं। हमारे देश की कुछ निजी विशेषताएं हैं—साम्प्रदायिक दंगे, जहालत-अशिक्षा, निर्धनता-भुखमरी, हम इनकी रक्षा करेंगे। कुछ भी हो जाए हम अपने देश की अस्मिता मिटने नहीं देंगे। वन और वन्य पशु समाप्त होने लगे थे, तो कितना बवंडर मचा था दुनिया में ? इसी से कहता हूं, सबकी रक्षा होनी चाहिए।"

मैं चौंका, "इस नीति पर चलने से आपकी पार्टी आपको टिकट देगी क्या ?"

"देगी क्यों नहीं ?"

"कौन-सी पार्टी ?"

"मेरी पार्टी।"

"आपकी पार्टी कौन-सी है ?" मैंने धृष्टतापूर्वक पूछा। आजकल प्रत्येक नेता से बात करने से पूर्व उनकी ताजा पार्टी का नाम पूछ लेना सुरक्षित विधि है।

"अभी मैंने उसका चुनाव नहीं किया है।"

"पर क्यो ?" बातचीत मे अब मैं कुछ निर्भय सा हो चला था, "प्राय पार्टिया के घोषणा पत्र आ चुके हैं। क्या आप अभी तक निश्चय नही कर पाए कि आपकी नीति किस पार्टी से मिल पाती है ?"

"बात नीति की नही है।"

"तो ?"

बात टिकट की है। जो पार्टी मुझे चुनाव का टिकट देगी, मैं उसका चुनाव कर लूगा।" लगा, जैसे कह रहे हो, 'जो कन्या मेरे गले म जयमाला डाल देगी, मैं उसी का वरण कर लूगा।' वे आगे कह रहे थे, "पार्टी और नेता मे नेता बडा होता है। नीति और टिकट मे टिकट बडी होती है।"

"क्या यह सिद्धातहीनता नही है ?" मैंने पूछा।

' नही। लगता है तुमने महाभारत कभी नही पढा।" व अत्यत शात दिखाई पड रहे थे, "यह चुनाव क्षेत्र है, अथात युद्ध-क्षेत्र। युद्ध क्षेत्र कुरु-क्षेत्र होता है, और कुरुक्षेत्र धम क्षेत्र है। युद्ध मे सब कुछ नैतिक और धमसम्मत है। अत चुनाव मे जो कुछ भी करूगा, वह धमसम्मत ही होगा। तुम अपनी सरकार चुन सकते हो और मुझे अपना धम चुनने का भी अधिकार नही दोगे ?"

इस धमनिरपेक्ष देश मे मैं उनके धम के चुनाव के अधिकार के विरुद्ध क्या कह सकता था ! बोला, "अवश्य ! अवश्य !! यह तो नीति की बात है। जो पार्टी टिकट न दे, उसमे कोई नेता नही रहेगा, जैसे जो सेना लडने न दे, उसमे कोई सिपाही नही रहेगा।

"अब तुम ठीक समझे। काश ! हमारे देश के पत्रकार भी इतने ही समझदार होते।" वे बोले, "वस्तुत जो जितना बडा आदमी है, वह उतनी ही परेशानी मे है। अब देखो, जनता तो एक बार अपन प्रतिनिधि को चुनकर मुक्त हो जाती है। हमारे लिए दोहरा सकट है।"

मुझे लगा, वे फिर दुखी होने जा रहे हैं। इतनी देर के वार्तालाप से मैंने उनका जो दुख दूर भगाया था, वही किसी और बहाने से पुन लौट रहा था, जैसे बडी कठिनाई से भगाए गए नेता, किसी-न किसी नई पार्टी के नाम से फिर फिर वापस लौट रहे हैं। मैं यह कैसे सहन करता ? इतना सहनशील मैं हू भी नही। इतनी सहनशीलता होती तो मैं भी नेता

हो गया होता। हमारे सहनशील नेता गरीबी और बेकारी को दूर भगाते हैं और वे पुन लौट आती हैं। वे महगाई को भगाते है और वह फिर लौट आती है। फिर भी तो हमारे नेता उनके अस्तित्व को सहन करते हैं या नही ? बहुत सहिष्णु हैं वे। सह-अस्तित्व मे विश्वास रखते हैं, इसलिए गरीबी और अमीरी को देश मे साथ साथ निभाए चल रहे हैं। यह गुण धन मे भी पाया जाता है। धनी लोग कबसे अपने देश मे गरीबी को बरदाश्त कर रहे हैं। इधर निधनता ही कुछ अधिक असहिष्णु हो उठी है, जो धन को देखकर बार-बार फुफकार उठती है।

"क्या दोहरा सकट है आपका ?" मैंने उनके दुख के द्विरागमन से कुछ अधिक ही करुणा विगलित होकर पूछा।

"दोहरा नही है क्या ?" वे मेरी नासमझी पर झल्लाए, "चुनाव से पहले एक पार्टी चुनो और चुने जाओ तो दूसरी पार्टी कोई कम मुसीबत है क्या ?"

मैं उनकी मुसीबत समझ नही पाया। चकित होकर फिर पूछा, "चुने जाने पर दूसरी पार्टी क्यो ?"

"लक्ष्य सिद्धि के लिए। वे बोले, 'व्यक्ति को सदा अपना लक्ष्य याद रखना चाहिए।" उन्होने तर्जनी से मुझे धमकाया, 'तुम्हारे जीवन का क्या लक्ष्य है ?" और फिर धीरे से जोड़ा, 'कोई तो होगा ही, कीडे मकोडो के जीवन का भी होता है।"

मैं सकपका गया, क्या लक्ष्य बताऊ

"बोलो !" उन्होने मुझे डाटा।

बोलना ही पडा, "मुझे तो लगता है कि मेरे जीवन का लक्ष्य आस पास की विसगतियो और विषमताओ को देखकर भीकना और अपना खून जलाना है।"

ठीक है ! ठीक है !" वे सतुष्ट हो गए 'यह लक्ष्य भी होता है। कुछ लोग अशुभ घडी म पैदा होते हैं और ऐसे ही लक्ष्य लेकर आते हैं। अब तुम ही बताओ, जिस काम स तुम्हारा अधिक खून जले, वह काम करोगे या नही। वह तुम्हारे लक्ष्य के अधिक निकट पड़ेगा।"

मैं मौन रहा। कुछ बोल ही नही पाया।

"कदाचित नहीं करोगे।" उन्होंने निराशा से सिर हिलाया, "लेखक हो न! लेखक लोग अपने लक्ष्य भूल गए हैं। सारे बुद्धिजीवी भूल गए हैं। हमारे देश का यही दुर्भाग्य है। देश के पिछड़े होने का एक कारण यह भी है कि हमारे लेखक अपना खून जलाने से कतराने लगे हैं। अब वे अपने स्थान पर दूसरों का खून जलाते हैं। जैसे कि नारियां, पति के शव के साथ स्वयं जलकर अपनी जायदाद के उत्तराधिकारी रिश्तेदारों को जलाती हैं पर हम राजनीतिज्ञ अपनी धुन के पक्के हैं। हम अपना लक्ष्य नहीं भूलते।"

"आपका लक्ष्य क्या है?" मैंने साहस कर पूछ ही लिया।

"जनता की सेवा।"

"तो उसके लिए पार्टी बदलने की क्या आवश्यकता है?"

"सामान्य व्यक्ति से अधिक जनसेवा संसद सदस्य कर सकता है, और संसद-सदस्य से अधिक मंत्री।" वे बोले, "इसलिए चुनाव के बाद मुझे पार्टी बदलनी पड़ेगी।"

"अर्थात जो पार्टी आपको मंत्री बना दे?"

"मंत्री बना दे नहीं," उन्होंने मेरी बात काटी "मंत्री बनाकर जनसेवा का अधिक अवसर दे।"

"एक ही बात है।" मैंने कहा।

"एक ही बात कैसे है?" वे बोले, "पिछड़े ढंग से बात मत करो। मंत्री बनने के लिए जनसेवा करना पिछड़ा हुआ विचार है, मंत्री बनकर जनसेवा करना आधुनिकता है—मैं दूसरा मार्ग ही श्रेयस्कर मानता हूं।"

"यह तो दोहरी सदस्यता है चुनाव के लिए एक पार्टी, मंत्रीपद के लिए दूसरी"

"यह नया जनतंत्र है।" बोले, "पर यह शब्द बड़ा बदनाम है। इसका प्रयोग मेरे संदर्भ में मत करो। मेरे दृष्टिकोण को प्रगतिशील दृष्टिकोण कहो—अपने लक्ष्य के लिए निरंतर आगे बढ़ना। मेरे लिए पार्टी से बढ़कर मेरा अपना लक्ष्य है।"

उनका आत्मविश्वास पूर्णतः जाग चुका था। दुःख उनके निकट भी नहीं फटक रहा था। विदा होने का यह अच्छा अवसर था।

"अच्छा !" मैंने अनुमति ली, "अब मैं चलू। हमारी असख्य शुभ कामनाए आपके साथ हैं।"

उन्होने मुझे ऐसे देखा जैसे आदमी छछूदर को देखता है, "चुनाव मे वोटो की सख्या काम आती है बखुरदार। शुभकामनाओ की असख्या नही। असख्य शुभकामनाए मेरे विरोधी को दे दो और अपना वोट मुझे दे देना।"

मुझे अपनी शुभकामनाए लौटा लेनी पडी, किन्तु वोट का वचन मैं तब भी नही दे पाया।

8 त्रासदी उज्ज्वल भविष्य की

मेरा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। मेरे एक व्यंग्यकार मित्र ने अपने पुत्र का नाम उज्ज्वल रख लिया है, इसलिए उसका भविष्य भी उज्ज्वल हो गया है, क्योंकि अपने देश में पिता का भविष्य उसका पुत्र ही होता है। पुत्र ही पिता के बुढापे का सहारा है, पेंशन है, भविष्यनिधि है, जीवन बीमा है। इसीलिए अपने देश में पुत्र की इतनी प्रबल कामना है। जिसका पुत्र न हो, उसकी गति नहीं है। कितनी सार्थक बात है। यह दूसरी बात है पुत्र कुछ आधुनिक निकल जाए और पिता को इस सत्य का साक्षात्कार करा दे कि वह उसका 'भविष्य' नहीं है वरन वे उसका 'भूत' हैं। और भूत से कौन पीछा छुड़ाना नहीं चाहेगा।

वैसे साहित्यकार की गति तो पुत्र के बिना हो ही नहीं सकती। पुत्र होना चाहिए और पिता के प्रति समर्पित होना चाहिए। चाहे पिता की पुस्तकें छापकर उसका उद्धार करे, या पिता की जीवनी लिखे अथवा पिता के जन्म स्मारक अधिकारी का काम करे। मेरा तो दृढ विश्वास है कि आजकल प्रत्येक साहित्यकार की यह कामना होने लगी है कि उसका एक पुत्र, ऐसा अवश्य हो जो सांसारिक अर्थों में नालायक हो ताकि लेखक पिता उसपर अहसान करता हुआ उसे अपने प्रचार के किसी काम में जोत सके।

पर बात साहित्यकारों के युवराज की न होकर मेरे उज्ज्वल भविष्य की चल रही थी। मेरे भविष्य की उज्ज्वलता, मेरे पुत्र पर निर्भर नहीं है, उसका आधार तो मेरे एक मित्र का गणित है। मेरा अभिप्राय गणित-ज्योतिष से नहीं है। मैं मात्र गणित की बात कर रहा हूं। यद्यपि गणित से मेरा अपना कोई संबंध नहीं है, पर एक गणितज्ञ मेरे मित्र अवश्य हैं और उनकी मैत्री कुछ इतनी घनिष्ठ है कि मैं उनके गणित से अप्रभावित

नही रह पाता हू । गणित छूत का रोग है । एक व्यक्ति आपके लिए कुछ हिसाब किताब कर दे तो आपकी गाडी चल पडती है और आगे का हिसाब आप स्वय करने लगते हैं । यह गयर मे डली हुई गाडी को धक्का देने के समान है । एक बार किसीने धक्का लगा दिया तो गाडी हवा से बातें करने लगती है । मेरे उस गणितज्ञ मित्र ने ऐसा धक्का अनेक लोगो को लगा दिया है । पर स्वय मे दूसरे को धक्का देकर वही के वही पडे हैं और अगले यह जा और वह जा ।

मेरे मित्र का गणित ससार के सारे गणितज्ञो से यहा तक कि अपने वराहमिहिर से भी भिन्न है । सबसे बडी भिन्नता यह है कि जहा अन्य गणितज्ञो की बात को आम आदमी समझ भी नही पाता, मेरे मित्र की बात आम आदमी के लिए ही है । जैसे हिन्दी के कुछ कहानीकार आम आदमी की कहानी लिखने की विशेष योग्यता रखते हैं, वैसे ही मेरे व मित्र आम आदमी के गणित के विशेषज्ञ है ।

हमारे परिचित एक सज्जन ने मालिक मकानो की घुडकियो से तग आकर और दिल्ली मे मकान बनाने मे स्वय को अयोग्य पाकर दिल्ली विकास प्राधिकरण द्वारा बनाए गए फ्लटो मे एक फ्लैट आसान किस्तो पर खरीद लेने का निणय किया । अपार उद्यम और पुरुषाथ के पश्चात जब फ्लैट उसको मिलने मिलने को हुआ तो हमारे गणितज्ञ का गणित आडे आ गया । उसने अपने गणित से सिद्ध कर दिया कि अगले नि यानवे वर्षों मे मोल और ब्याज मे जितना पैसा वह दिल्ली विकास प्राधिकरण को देगा, उतने मे स्वतत्र रूप म एक मकान मजे म बनाया जा सकता है । परिणाम यह हुआ कि उस आम आदमी ने फ्लैट लेना अस्वीकार कर दिया । सौ रुपये महीना की किस्त देकर फ्लैट खरीद लेने के स्थान पर, वह आज तक ढाई सौ रुपया महीना किराया देकर एक सडी-सी कोठरी म रह रहा है और प्रसन्न है कि वह दिल्ली विकास प्राधिकरण के जाल म फसने स ही नही बचा वरन उसने स्वतत्र मकान बनाने का समझदारी पूण निश्चय किया है । वैसे यह बात हमारे गणितज्ञ मित्र भी जानते हैं कि न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी ।

तो उन्होने अपना गणित भिडाकर यह सिद्ध कर दिया है कि जब मैं

अपनी नौकरी से अवकाश लूगा, तब भविष्य निधि के रूप म मुझे दो लाख रुपये मिलेंगे। मेरी हैसियत के आदमी के लिए दो लाख रुपया की बात ही नींद उडा देने के लिए काफी है। और उनका यह गणित मुझ पर ही नही मेरे सारे सहयोगियो पर लागू होता है। परिणामत हमारी नींद सामूहिक रूप से उड गई है।

इन दो लाख रुपया के आधार पर ही मैंने कहा था कि मेरा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। आज चाहे मैं अपने लिए जूतो का जोडा भी न खरीद सकू पर नौकरी स अवकाश प्राप्ति के समय मेरे हाथ म दो लाख रुपये होगे। यह समाचार मैंने खूब प्रचारित किया है और तब से मेरे अधिकाश पडोसी (बेचारे!) इस तथ्य के सत्यासत्य को लेकर बहुत परेशान हैं। उन्होने मिलने के बहाने अपनी पत्नियो को भेज भेजकर मेरी पत्नी से किसी प्रकार यह उगलवाना चाहा है कि दो लाख की बात सत्य नही है। पर मेरी पत्नी भी इस जासूसी को निष्फल कर देने के लिए दृढ प्रतिज्ञ है। वह दो के स्थान पर ढाई लाख की बात कहती है।

अब स्थिति यह है कि अपने मित्र के इस आरभिक गणित ने मेरे सोए और भुलाए हुए गणित को जगा दिया है। आगे का गणित मैं स्वय करने लगा हू। यद्यपि मैंने गणित की पढाई स्कूल मे ही छोड दी थी और अर्थशास्त्र तथा वाणिज्य शास्त्र म मेरी कभी रुचि नही रही, फिर भी अपने गणित के बल पर मैं यह हिसाब लगा चुका हू कि दो लाख रुपये यदि फिक्स डिपाजिट मे रखे जाए तो उनका ब्याज कितना होगा? रीइनवेस्टमेंट प्लान मे ब्याज की क्या स्थिति होगी? बक ठीक रहेगा या डाकघर! किसी कम्पनी मे रुपये लगाने पर क्या लाभ होगा। या, दो लाख रुपयो का बटवारा मुझे किस प्रकार करना होगा—मकान खरीदना ठीक होगा या हिमालय की तराई मे कोई फाम मेरी पत्नी के सोचने की दिशा मेरी दिशा के विपरीत है। उसका विचार है कि दो लाख रुपयो का सोना खरीदना ही सर्वोत्तम है। उस सोने मे से कुछ बहू को चढाना चाहिए और शेष बहू की सास को।

पर मैं इस षडयत्र मे फसने वाला नही हू। इसम मुझे कगाल बना देने की योजना बहुत स्पष्ट दीख रही है। सास-बहू सोने से लदी बैठी

होगी और मैं हाथ मसता रह जाऊगा। मैं एक साहब को जानता हू जिन्होने अपने प्राविडेंट फड म स ऋण लेकर एक मकान बनाकर अपन चार चार कमाऊ बेटो को उसम बसाया था, किंतु बेटे न तो मकान का किराया दते थे न ऋण की किस्त ! बाप बेटो को कोसता था और बेटे बाप को।

मैं अपने पुत्र की ओर से भी बहुत सतक हू। कही ऐसा न हो कि बुढापे मे मेरा सहारा बनने के स्थान पर मुझे ही सहारा बना ले। वह जब कभी व्यापार या उद्योग की बात करता है—मुझे लगता है कि वह मेरे दो लाख हडपने का षडयत्र रच रहा है। मैं उससे स्पष्ट कह देता हू कि वह व्यापार और उद्योग की बात छोडकर नौकरी की बात सोचे। हमारे परिवार के लोगो को नौकरी ही रास आती है। मेरे मित्र के गणित न मेरी समझ को इतना साफ कर दिया है कि मुझे अपनी पत्नी और पुत्र भी लुटेरे ही दिखाई पडने लगे हैं। कई बार तो मैं यह भी सोच चुका हू कि मैं प्राविडेंट फड के स्थान पर पशन ले लू। प्राविडेंट फड का पैसा एक साथ हाथ मे आएगा तो बेटे बेटिया चाहेंगे कि मैं उनकी गृहस्थिया को ठोस आधार दने के लिए अपने दो लाख उनम बाट दू। किंतु, पशन तो हर महीने मिलेगी और हर महीने खच हो जाएगी। कोई क्या मागेगा और क्या लेगा। पर यहा भी मित्र का सिखाया हुआ गणित आडे आ जाता है। उसने मुझे बताया है कि प्राविडेंट फड की राशि का ब्याज पशन की राशि से अधिक होगा। इसीलिए मैं चक्रव्यूह मे फस अभिमन्यु के समान अपने दो लाख की रक्षा कर रहा हू।

अपनी पत्नी और बच्चो से तो शायद मैं अपने दो लाख की रक्षा कर लू, पर मेरे मित्रो के हाथो यह रकम बचनी कठिन है। वे लोग मेरे धन की आकाक्षा तो नही करते, फिर भी उनके मारे दो लाख का यह कोष मेरी मुटि्ठया म से फिसलता जा रहा है

जो सबस अधिक जोखिम की बात करते है, मेरे वे मित्र परम आशा वादी है। उनका कहना है कि अवकाश प्राप्ति के समय तक न मुह मे दात होगे न पेट मे आत ! उस बुढापे मे न अच्छा खाया जाएगा न पहना जाएगा। सिर हिल रहा होगा, हाथ काप रहे होगे। आवश्यकताओ की पूर्ति

हो चुकी होगी और तष्णाओ मे मुक्ति ! ऐसे में उस धन का करना ही क्या है ? उस समय हमे क्या चाहिए होगा चलते हुए सहारा लेने के लिए एक छडी ! पेट दद और सिर दद की गोलिया । दाता का एक नया सैट और आखो के लिए एक ऐनक । ऐसे मे हम दो लाख का करना ही क्या है । वह रुपया तो होगा ही अपने बच्चा मे बाट देने के लिए ।

अपने इस मित्र की आशावादिता मुझे विष के समान लगती है । यह व्यक्ति इतना तप्त क्या है ? इसमे कोई तष्णा क्यो नही ? जब आवश्यकताए और तृष्णाए है तो पास पैसा नही, और जब पैसा होगा तो शरीर अक्षम हो जाएगा । मेरे जीवन भर की कमाई म सेंध लगा रहा है, मेरा यह मित्र ! उसकी बातें सुनकर मेरा हृदय कापता है और मेरा गणितज्ञ मित्र हसता है । उसका गणित कहता है कि रुपये का मूल्य इसी प्रकार कम होता गया तो मेरे अवकाश प्राप्त करते करते दो लाख का मूल्य आज के दो हजार के बराबर रह जाएगा सवनाश । यह मित्र तो मृगमरीचिका है । एक हाथ से दो लाख देता है तो दूसरे हाथ से उसे छीन भी लेता है । अपने भविष्य की उज्ज्वलता मेरे लिए सिर दद बनकर रह गई है

9 त्रासदी लिखे हुए भाग्य की

वह भाग्यवादी था। मानता था कि लिखे को कोई नहीं टाल सकता। होनी होकर ही रहती है। मैं उससे बहुत प्रसन्न था। शायद मेरे भाग्य मे उससे प्रसन्न रहना नही लिखा था।

मेरी प्रसन्नता अकारण नही थी। घर म बहुत दिनो से कोई नौकर टिक नही रहा था। जो भी आता था, स्वय ही दो चार दिनो म चला जाता था, या मेरी पत्नी उसे निकाल देती थी। पत्नी के लिखे को मैं टाल नही सकता था। होनी होकर रहती थी और नौकर चला जाता था। जो भाग्य म लिखा था, वही होता था—पत्नी खाना पकाती थी, और मैं अदक्ष मजदूर के समान बतन माजता था।

पर जो नया भृत्य आया था, वह स्वय यह मानता था कि ऊपर वाले ने उसका अन्न जल हमारे घर मे ही लिखा था। ऐसा न होता तो वह अपने गाव से उठकर सीधा हमारे ही घर इस सहजता से क्या चला आता?

उसका नया नया विवाह हुआ था। पर होनी को कोई नही टाल सकता विवाह भी नही। वह हनीमून मनाने के स्थान पर हमारे घर बतन माजने के लिए आ पहुचा था। और भेजा भी उसे उसकी अपनी नई नवेली ने था। उसका भाग्य, नई नवेली की कत्तव्य भावना बनकर बोला था 'ब्याह किया है तो क्या मुझसे जुडे बैठे रहोगे। जाओ, शहर में जाकर कुछ कमाओ।'

वह गरीब क्या जानता था कि वह विवाह नही कर रहा, लोगो के घर बतन माजने का अनुबध लिख रहा था। पता होता तो फेरो से ही न उठ भागता। पर उठ कैसे भागता, वह जानता था लिखा ही यही गया था। होनी को कोई नही टाल सकता। उसका विवाह भी होना था और

उस बतन भी माजने ही थे।

मैं प्रसन्न इसलिए था कि अब वह कहीं नहीं जाएगा। मेरी पत्नी उसे नौकरी से निकाल सकती थी पर उसके भाग्य के लिखे को नहीं टाल सकती थी। जब उसके भाग्य में हमारे ही घर का अन्न जल लिखा था तो वह कैसे चला जाएगा और मेरी पत्नी उसे कैसे निकाल देगी? अपने देश में यह सभव नहीं है। गरीबी से तो लड नहीं सकते, हम भाग्य से कैसे लड जाएगे?

अपनी चालाकी पर मैं प्रसन्न था। मैं उसके भाग्य से परिचित था पर अपने भविष्य के प्रति अधकार में था। स्थायी भृत्य पा लेने की प्रसन्नता में मैं अपनी हानी भूल गया था।

दूसरे ही दिन वह भाग्यवादी रसोई से उठकर सीधा मेरे सामने हाजिर हुआ। उसके चेहरे पर छायावादी कवियो की अनन्त यातना थी, और वह मन से भी काफी उदास था।

बोला, "साहब! होनी को कोई नहीं टाल सकता।"

मैं उसके भाव को देख, कुछ हतप्रभ हो गया। जल्दी जल्दी याद कर गया कि इधर किसी भी ओर से कोई ऐसी सूचना तो नहीं आई, जिसके कारण लोग इस शब्दावली में अफसोस कर मुझसे सहानुभूति प्रकट करें। पर मुझे ऐसी कोई बात याद आई नहीं। मेरी रिश्तेदारी, गली मुहल्ले, मित्र मडली में सब लोग कुशल क्षेम से थे।

फिर वह ऐसी बात क्या कर रहा है?

होगा। वह शायद दार्शनिक स्वभाव का व्यक्ति है। सैद्धातिक चर्चा कर रहा होगा। सैद्धातिक चर्चा के लिए किसी घटना का घटित होना आवश्यक नहीं है। उसमें अवसर तथा व्यक्ति का औचित्यानौचित्य भी नहीं देखा जाता। सैद्धातिक चर्चा के नाम पर लोग अपनी पत्नियों के अपने मित्रों के साथ वैध-अवैध सबधो पर भी चर्चा कर लेते हैं। चर्चा मात्र से कौन से सबध हुए जाते हैं। चर्चा निर्दोष होती है, चाहे वह अपने जन्म की अवैधता के सबध में ही क्यों न हो।

"हा! होनी को कोई नहीं टाल सकता।" सहमत होना पडा।

"साहब! उस नई केतली का टूटना मेरे ही हाथों लिखा था।"

मैं चीख नहीं सका। उसने दर्शन की ओट मे मुझे करारी चपत लगाई थी। केतली के टूट जाने पर ढाई सौ रुपयों का जर्मन टी सेट नष्ट हो गया था। वह दार्शनिक मुद्रा बनाए मेरे सामने खड़ा था। दर्शन से भरे पूरे इस वातावरण में मैं न उसका सिर पीट सकता था, न अपना। उसने मुझे दर्शन के कंबल में लपेट कर पेट भर पीटा था। सैद्धांतिक बात थी सिद्धांतों को कैसे झुठलाया जा सकता है।

लिखे के हाथों मेरी केतली ही नहीं टूटी, मेरा सारा राष्ट्र पिटा है। लिखने वाले लिख जाते है और फिर उसे कोई नहीं टाल सकता। हमने दबे स्वर मे, बड़ी हल्की सी शिकायत की थी, "साहब चीजों की कीमतें बढ़ती जाती है। महगाई का कोई अन्त नहीं है।"

वे हस पड़े। बोले, "कुछ पढ़ा लिखा करो। अज्ञान का नतीजा बुरा होता है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री लिख गए है कि विकासशील देशों में जब जीवन स्तर ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है, तो चीजों का मूल्य बेतहाशा बढ़ता जाता है। हमारे देश मे तो अभी कुछ नहीं हुआ।"

मैं चुप रह गया। समझ गया महगाई नहीं बढ़ रही, लिखे की पूर्ति हो रही है। अर्थशास्त्रियों के लिखे को कौन टाल सकता है। 'वे भी नहीं टाल सकते। हर वर्ष बजट के समय टैक्स बढ़ा देते हैं। 'पार्टी' के लिए चंदा लेकर उत्पादकों को मूल्य बढ़ाने की अनुमति दे देते हैं। चीजों के भाव बढ़ जाते हैं। गरीब आदमी रोता है तो अर्थशास्त्र के सिद्धांत पढ़ा देते हैं। सिद्धांतों में बंधा सारा देश पिट रहा है। रो भी नहीं सकता। जब होना ही यही है तो होनी को कौन टाल सकता है।

और मुझे लगने लगा है कि दिल्ली स्कूल आफ इकानामिक्स युवा पीढ़ी को अर्थशास्त्र नहीं पढ़ा रहा, देश की महगाई बढ़ाने वाले कर्मठ कार्यकर्ता पैदा कर रहा है।

लिखे को कोई नहीं टाल सकता। सर्वशक्तिमान आचार्य भी नहीं। एक दिन डा० अज्ञानचंद, 'आचार्य' के घर धरना देकर बैठ गए। 'आचार्य' जब बाहर से आए तो डा० अज्ञानचंद उनके पैरों में लोट गए।

'आचार्य' कुछ नाराज भी हुए, "अबे, तुझे मिरगी की बीमारी है क्या ?"

"नहीं सर !" डा० अज्ञानचंद अपनी गुरुभक्ति में, 'आचार्य' की चप्पल पर अपना सिर रगड़ रगड़कर उसकी पालिश खराब करते रहे।

"मिरगी नहीं है, तो अपने कपड़े क्या गंदे कर रहा है, उठ।"

"आचार्य ! मैं तो दंडवत कर रहा हूं। अपनी संस्कृति के अनुसार।"

"दंडवत ही करना था तो लंगोटी लगाकर आता।" 'आचार्य' खीझ गए, "सूट पहन कर दंडवत क्या करता है। खैर, उठ।"

डा० अज्ञानचंद उठकर खड़े हो गए।

"बैठ।" 'आचार्य' ने आज्ञा दी।

"आपकी उपस्थिति में बैठने की धृष्टता मैं कैसे कर सकता हूं।" डा० अज्ञानचंद खड़े रहे।

"अबे, तू मेरे कमरे में खड़ा है। कौन-सा इलैक्शन में खड़ा है कि बैठने पर साख चली जाएगी। बैठ जा कुर्सी पर।"

"जी ! मैं खड़ा ही ठीक हूं।"

'आचार्य' अपनी संस्कृति पर खीझ उठे, "या तो लेट ही जाएंगे, या फिर सीधे खड़े ही हो जाएंगे। अबे तू आदमी है या लाठी। मैं कहता हूं, इन दोनों के बीच की भी एक स्थिति है, जिसे बैठना कहते हैं। बैठो।"

"जी ! मैं ऐसे ही ठीक हूं।"

"ऐसे ही ठीक थे, तो यहां मेरी खोपड़ी चाटने क्यों आए हो ?"

"जी ! आपसे एक प्रमाणपत्र लेना है कि मैंने आपके शिष्यत्व में अध्ययन किया है।"

"अध्ययन किया है, तो ठीक है। विश्वविद्यालय तुम्हें डिग्री देगा"

"मेरी जितनी श्रद्धा आपमें है, उतनी विश्वविद्यालय में नहीं।" डा० अज्ञानचंद ने फिर से लेटने की तैयारी की, "मुझे आप प्रमाणपत्र दे दीजिए।"

"अब लेट मत नालायक !" 'आचार्य' घबराहट में चीख उठे, "बोल प्रमाणपत्र में क्या लिखवाना चाहता है ?"

डा० अज्ञानचंद इसी प्रश्न की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने अपनी जेब में से एक टाइप किया हुआ कागज निकाल आचार्य के सामने धर दिया।

'आचार्य' ने आखें फाड़कर देखा, कागज़ पर अज्ञानचंद की योग्यता का बखान था। 'आचार्य' उस बखान से सर्वथा असहमत थे, पर लिखे को नहीं टाल सकते थे। चुपचाप हस्ताक्षर कर दिए।

तीसरे ही दिन एक नौकरी के इंटरव्यू में डा० अज्ञानचंद ने 'आचार्य' के सम्मुख उनका लिखा हुआ प्रमाणपत्र प्रस्तुत कर दिया, और आचार्य अपने ही हस्ताक्षर की लपेट में आ गए। लिखी हुई योग्यता को वे नहीं टाल सके, और डा० अज्ञानचंद को नौकरी दे आए।

10 त्रासदिया खाली हाथ की

मैं उनके घर गया तो वे शरम मे पानी पानी हो गए। आगन तक गीला हो गया। तब वही जाकर मेरी समझ मे आया कि अपने भारतवर्ष की नदिया मे बाढ केवल वर्षा से ही नही आती। लोग यदि इस प्रकार पानी-पानी होने लगे, जैसे कि वे हो रहे थे, तो नदिया म ही क्या तालाबो और नालियो तक पर बाध बाधन की स्थिति आ जाएगी।

उनस रहा नही गया तो बोले, "बडी शरम की बात है।"

"क्यो ? क्या कोई बहुत घटिया काम कर बैठे हैं आप ?" मैंने पूछा।

'हमने ख्वाहमख्वाह कर दिया,' उन्होने मुझे डाटा, 'हम तो तुम्हारी हरकता से लज्जित हैं।"

"हरकतें मेरी और लज्जित आप हैं।" मैंने चकित होकर कहा।

"अब तुम म तो शरम है नही तो हम ही लज्जित होना पडेगा।" वे इस अदाज मे बोले जैसे कह रहे हो कि तुम तो हो कगाल, तुम्हारे पास पैसा है नही तो हम ही खच करना पडेगा।

मैं तत्काल मान गया। दुनिया का काम तो कोई रुकता नही। हम नही करेंगे तो कोई और करेगा।

"क्या अपराध हो गया मुझसे ?" मैंने पूछ ही लिया।

"इतनी बडी खुशी हुई और आप खाली हाथ चले आए।'

अब पानी पानी होन की बारी मेरी थी। अपनी समझ पर झुझला रहा था, जो यह तय नही कर पा रही थी कि उनम खुशी की बडाई छुटाई लेकर उलझू या खाली हाथो को लेकर। अन्त म निणय किया कि खुशी तो भाववाचक सज्ञा है। उसकी कोई ठोस कसौटी हो नही सकती। जाने वे किस खुशी की बात कर रहे हैं। कही उन्होने अपनी सूक्ष्म बुद्धि से खुशी का आकार बडा सिद्ध कर ही दिया तो मुझे परेशानी मे डाल देंगे। और

मिश्रा के घर जाकर उनसे उलझना वैसे भी भले आदमियों का ढन्ग नहीं है, इसलिए मैंने उलझने को टाल दिया। उसका एक ही ढंग मुझे आता है।

अपने देश में दर्शनशास्त्र बहुत उपयोगी वस्तु है। जहां स्पष्ट बात न करनी हो, वहां आदमी दार्शनिक हो जाता है। किसी को टालना हो तो दर्शनशास्त्र, मक्खियों को भगाने वाली दवा का काम करता है। हमारे एक परिचित सेठ जी आयकर अधिकारियों के सम्मुख वक्तव्य दे बैठे कि उनके मकान में कोई किराएदार नहीं है। आयकर अधिकारी गुप्तचर विभाग से, स्थानांतरित होकर आया लगता था। उसने किराएदार को ढूंढ कर सेठजी के सम्मुख ला खड़ा किया। झूठा वक्तव्य देने के कारण जब जेल जाने की स्थिति आ पहुंची तो लालाजी दार्शनिक हो गए। बोले, "कौन किसका मालिक और कौन किसका किराएदार जी। सबै भूमि गोपाल की। भगवान ही सबका मालिक है। उसीका यह मकान है। उसी के ये किराएदार हैं। हम को किसी से क्या लेना देना।"

"मकान भगवान का है तो किराया आप क्या लेते हैं। रसीद आप क्या देते हैं?" आयकर अधिकारी तीखा पड़ा, "मैं कहूं, यह किराया मुझे दे दो, तो आप दे देंगे?"

सेठजी ने अपनी दार्शनिक मुद्रा नहीं बदली। अपनी टेक पर अड़े रहे "अरे, हम ठहरे उसके चौकीदार। मालिक का पैसा चौकीदार किसी और को कैसे दे देगा। हमसे यह बेईमानी नहीं होगी।"

मैं भी दार्शनिक हो गया "आदमी खाली हाथ ही आता है और खाली हाथ चला जाता है।" मैं बोला, "पर मैंने तो किसीको लज्जित होते नहीं देखा। सिकन्दर भी "

पर उन्होंने सिकन्दर की बात, मुझे पूरी नहीं करने दी। बोले, "आदमी दुनिया में खाली हाथ आता है किसी भले आदमी के घर तो खाली हाथ नहीं आता।"

मुझे उनके भले आदमी होने में काफी संदेह था। पर मैंने अपना संदेह प्रकट नहीं होने दिया। बोला, "खाली हाथ नहीं आना चाहिए तो क्या घड़ी लेकर आता? पर अभी तो मैं बूढ़ा नहीं हुआ। और वर्षा ऋतु

भी नही है कि हाथ मे छतरी ही ले आता।"

"अच्छा। अब बनो मत!" उन्होने भी अपनी सूक्ष्म नीति त्याग दी। ठोस उदाहरण देते हुए बोले, "हाथ मे मिठाई का डिब्बा लेकर आते तो कितने सुशोभित होते तुम्हारे हाथ।"

मुझे अपनी मा की सीख याद आ गई। बोला, "पर वह तो बहन बेटी के घर जाओ तो खाली हाथ नही जाते, मिठाई या फल ले जाते है। पर तुम्हारी पत्नी तो न मेरी बहन है न बेटी ।"

"भाभी तो है!"

मैंने तो इस विषय मे भी बहस उचित नही समझी, नहीं तो वे सूची लबी करते जाते। कह देते कि अधिकारियो के घर भी मिठाई लेकर जाते हैं, अध्यापकों के भी, ब्राह्मणो के भी मिठाई खाने वाले इस देश म इतने लोग हैं, और मिठाई इतनी महगी है कि मैं रोज समाचारपत्र इस अपेक्षा से पढता हू कि कभी तो सरकार ऐसा कानून बनाएगी कि मिठाई खरीदने के लिए इनकमटैक्स क्लियरेंस प्रस्तुत करना अनिवार्य हो जाए।

पर, समय सदा एक सा नही रहता। एक दिन मेरे उन मित्र के घर भी खुशी हुई। नही! उनके घर लडका पैदा हुआ। उनका तलाक हो गया। फूले नही समा रहे थे। अपनी खुशी बाटने कचहरी से सीधे हमारे घर चले आए थे।

"इतनी खुशी की बात है और तुम खाली हाथ चले आए।" मैंने उन्ही के अदाज म कहा।

"खाली हाथ!" वे हसे, 'खाली हाथ कौन गया आया है? हाथ मे ब्रीफकेस है और ब्रीफकेस मे तलाक के कागज! क्या समझे।"

मैं बहुत कुछ समझ गया। मनुष्य दुनिया म खाली हाथ आता है और खाली हाथ दुनिया से चला जाता है। पर, जब तक दुनिया मे रहता है, हाथ मे एक ब्रीफकेस अवश्य झूलता रहता है। खाली हाथ आना जाना तो ठीक है, पर यहा खाली हाथ रहना ठीक नही है। अपने लिए आदमी कुछ-न-कुछ मागता ही रहता है। कभी कभी तो मुझे लगता है कि मनुष्य ने ईश्वर का सृजन ही इसलिए किया है कि उससे कुछ-न-कुछ सके। महत्त्वाकाक्षी लोगो की बात छोडिए वे तो ऐश्वय ही

हैं। जो बहुत महत्त्वाकांक्षी नहीं भी हैं, वे भी ईश्वर से कहते हैं, "कुछ तो दे—चल! एक ब्रीफकेस ही दे।" अब यह दूसरी बात है कि ब्रीफकेस कभी खाली नहीं रहता। जो व्यक्ति ईश्वर से छोटी सी चीज मांगता है, वह ब्रीफकेस ही मांगता है, किंतु (फिल्मों के समान) सौ सौ के नोटों की गड्डियों से भरा हुआ। जैसे मेरी पत्नी जीवन में बस दो वक्त की रोटी मांगती है, चाहे पांच तारा वाले किसी भी होटल में मिल जाए।

तो मेरे मित्र भी अपनी इतनी बड़ी खुशी के बाद, हमारे घर खाली हाथ नहीं आए हैं ब्रीफकेस झुलाते हुए आए हैं। ब्रीफकेस के बावजूद मुझे न केवल उनके हाथ खाली दिखाई पड़ रहे थे, मुझे तो उनका घर भी खाली खाली दिखाई पड़ रहा था। और उन्हें लग रहा था कि पत्नी खोकर कोई बड़ा खजाना उनके हाथ आ गया है। उस समय उन्हें मौसम बड़ा सुहावना लग रहा था, अतः आते ही उन्होंने 'भाभी जी' से चाय की फरमाइश कर दी। दुनिया भर की धूल फांक कर आए थे, अतः उन्हें भूख भी खूब लगी थी। वैसे भी उन्हें 'भाभी जी' के हाथ की पकी चीजें बड़ी स्वादिष्ट लगती थीं। भाभी जी के प्रति इस प्रशंसा भाव के कारण उनकी खुशी में मिठाई हमें ही खिलानी पड़ गई।

पर बात तो हाथों के खाली होने की है। एक अन्य मित्र हैं हमारे, जिनकी दृष्टि दूसरों के खाली हाथों पर नहीं अपने हाथों पर है। उनकी जेब में भारी वेतन वाला पर्स है, घर से भी सम्पन्न हैं, और फिर अभी कुंवारे हैं। प्रतिदिन दो चार रिश्ते प्रस्तावित होते रहते हैं। कुंवारी कन्याओं के अभिभावक उन्हें 'चाय' और 'खाने' पर बुलाते ही रहते हैं। हम उनकी दसों अंगुलियां घी में दिखाई पड़ती हैं और वे अपने हाथ झटक झटक कर अपने खाली हाथों को रोते हैं। हम महीने के अंतिम दिनों में खाली हाथ होते हैं और वे पूरे महीने का वेतन जेब में डालकर भी स्वयं को खाली हाथ ही अनुभव करते हैं। बहुत शोध किया तो पता चला कि वे अपने हाथों को तब तक खाली ही मानते रहेंगे, जब तक किसी गोरी की कोमल कलाई उनके हाथ में नहीं आ जाएगी। पहली बार पता चला कि उनके हाथ ही खाली नहीं हैं बेचारे आज तक स्वयं को दिल से भी दिवालिया ही मानते रहे हैं। स्वयं बढ़कर किसीकी कलाई थाम नहीं

सकते थे, इसलिए प्रतीक्षा मे थे कि कोई भला आदमी स्वय ही कन्यादान करे। उनकी इच्छापूर्ति के लिए लोग इच्छुक भी बहुत थे, किंतु तब उन महाशय की दृष्टि अपने खाली हाथो को भूलकर गोरी की सुदर कलाई को नही, उसपर पहनाई गई सोने की चूडिया और अगुलिया मे पहनी हीरे की अगूठिया को गिनने लगती थी। परिणाम यह है कि आज तक बैठे अपन खाली हाथो को रो रहे हैं।

और एक वह वग है जो अपने हाथो को खाली रखने के लिए सघष कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति उनकी ओर आश्चय मे देखता है और पूछता है, "खाली हाथ?" वे कहते हैं, हा! खाली हाथ।" पूछो, "क्यो?" तो उत्तर दते ह, "बस मे खडे होने के लिए उसकी छत म लगा डडा पकडना होता है, इसलिए।" उनसे कहो कि विश्वविद्यालय की उपाधि इन हाथो से पकडाने के पहले, इन हाथो म हम एक-आध पुस्तक भी पकडाना चाहते हैं, इसलिए तुम बस का डडा छोडकर एक पुस्तक पकड लो।" पर वे अपने हठ पर अडे हैं "पुस्तक पकड ली तो बस छूट जाएगी। और बस ही वह वाहन है जो विश्वविद्यालय तक पहुचाता है। पुस्तक किसी वाहन का नाम नही है, वह कही नही पहुचाती। वह हाथो को केवल उलझा देती है।"

सारा देश इस वग के हाथ म पुस्तक पकडाने को छटपटा रहा है, पर यह वग मेरे मित्र के सप्रदाय का अनुयायी है, वह अपने परीक्षक के घर खाली हाथ नही जाना चाहता। रास्ते मे हलवाई की दुकान पडती है। वही से वह मिठाई का डिब्बा पकड लेता है। न वह खाली हाथ परीक्षक के घर जाता है, न वह शरम से पानी पानी होता है। इसीलिए न कभी उसका आगन भीगता है, और न कभी उसकी आखें।

11 त्रासदिया टेलीफोन की

मेरी एक परिचिता का कहना है कि दिल्ली मे जब किसीके पूर्व जन्मो का पुण्य उदित होता है तो उसके घर टेलीफोन लग जाता है। नही ! वह महिला मेरी मित्र नही हैं, परिचिता मात्र हैं। परिचिता भी मैं कह रहा हू, पता नही वे मुझसे सहमत भी होगी या नही। नही भी होगी, तो क्या हानि है ? तब मैं लिख सकता हू कि मेरी एक अपरिचिता का कहना है। उनका परिचय या अपरिचय उनकी उक्ति को उद्धत करने से मुझे नही रोक पाएगा। वैसे आपकी रुचि उस महिला मे अधिक क्या है ? मैं तो टेलीफोन की बात कर रहा हू।

मुझे उनकी बात इसलिए याद आ गई, क्योकि पिछले दिनो मेरे घर पर टेलीफोन लग गया है। अब कह नही सकता कि पिछले जन्मो का पुण्य उदित हुआ है, या हमारा टेलीफोन विभाग ईमानदारी से बारी आने पर लाइन देने लग गया है, या नया ऐक्सचेंज बन जाने पर टेलीफोन की लाइनें इतनी अधिक हो गई हैं कि हम जैसे उत्कोच खिलाने अथवा चिरौरी करने के अयोग्य लोगो की भी बारी आ गई है।

पर दो ही दिनो मे ज्ञात हो गया कि पूर्वजन्मो के पुण्यो का उदय नही हुआ है, टेलीफोन सम्बन्धी त्रासदी हो गई है। अग्रेजी मे इसे शायद 'टैलिफोनिक ट्रेजेडी' ही कहेगे।

हुआ यू कि साढे आठ बजे प्रात मेरी पत्नी ('श्रीमती जी' कहना मुझे अच्छा नही लगता।) कालेज गइ और दस बजे लौट भी आइ। (जी हा ! बात टेलीफोन की ही करूगा)। हैरान होकर पूछा, "क्या हुआ ? कोई मत्री मर गया ?"

मन्त्रियो की मत्यु भी अपने देश मे एक त्योहार के रूप मे मनाई जाती है। मत्री के मरने पर स्कूलो कालेजो दफ्तरो मे छुट्टी तो हो जाती

है, पर शोक किसीको नही होता। उनका होता होगा जिनका वह मन्त्री पालक पिता होता है। सामान्य जन को कोई शोक नही होता। मन म शोक हो नही और व्यक्ति को काम से छुट्टी मिल जाए तो वह दिन अपने आप त्योहार म बदल जाता है। लोग अपने बाल-बच्चो के साथ किसी मेले ठेले मे घूमते फिरते और चाट खाते दिखाई पडते है।

पर मेरी पत्नी अशोक नही थी। बेचारी काफी परेशान लग रही थी। बोली, 'मन्त्री नही मरा, मैं मर रही हू सिर दद स।"

मैं किकत्तव्यविमूढ खडा रह गया। यह शब्द मुझे बहुत प्रिय है। जब कोई बेचारा देहाती सवारियो की बहुतायत म घबराकर दिल्ली की यातायात सम्पन्न सडक के बीचोबीच इस प्रकार खडा हो जाता है कि किसी दिशा मे एक इच भी नही खिसक पाता और सवारिया हैं कि दसो दिशाओ मे उसे घेर, खडी होकर अपने हॉर्न के शोर स उसका अभिनन्दन करती हैं तो मेरे मन मे यही शब्द आ विराजता है।

अपनी पत्नी का उत्तर सुनकर मैं भी किकत्तव्यविमूढ खडा रह गया। आज तक तो वह सिर दद को दवा की किसी एक टिकिया स भगा देती थी। आज मर भी रही है और कालेज मे घर भी आ गई है।

'तुम क्या मर रही हो सिर दद से ?" मैं बोला, दवा बनान और बेचने वाले मर गए हैं क्या ? विज्ञापना मे बार बार सौहराए (दोहराए-तिहराए के तौल पर यह शब्द मैंने बनाया है। कृपया इसका प्रयोग करने से पहले या बाद मे मेरी अनुमति अवश्य ले लें) जाने वाले नामा म से किसी एक नाम वाली टिकिया खा लो, सिर दद मर जाएगा।"

पर वह नही मानी। वह पत्नी ही क्या, जो पति की बात मान जाए। टिकिया उसने नही खाई। मुझसे सिर दबाने को भी नही कहा। मैंने ही नारी पुरुष समता के सिद्धात पर आधत अपनी सैद्धातिक उदारता को प्रकट करते हुए कहा कि जब पत्नी अपने पति की सेवा कर सकती है तो आवश्यकता पडने पर पति क्यो अपनी पत्नी की सवा नही कर सकता ? किन्तु मेरी उदारता से वह तनिक भी प्रसन्न नही हुई। उल्टे उसने अत्यन्त आशकित दृष्टि से मुझे देखा, जैसे मैं उसका सिर नही गला दबाने का प्रस्ताव कर रहा होऊ।

एक बार पहले भी वह इसी प्रकार आशंकित होकर मुझे देखती रही थी। वह हमारे दाम्पत्य जीवन के मध्ययुग की बात है। तब उसने मेरी इच्छा के विरुद्ध एक अल्पकालिक भारी भरकम बीमा यह कहकर कराया था कि यदि (भगवान न करे) उसे कुछ हो जाए तो उसके बच्चे उसके वेतन के अभाव मे, आर्थिक तंगी के कारण परेशान न हो। जब तक बीमा नहीं हुआ था और इस विवाद पर हमारी शिखर वार्ता चल रही थी, तब तक मैं काफी परेशान रहा करता था। किन्तु जब बीमा हो ही गया तो फिर क्या करता ? मैंने अपने मन को समझा लिया। मेरा मन शुद्ध भारतीय मन है, बहुत जल्दी समझौता करता है और बहुत जल्दी अपना अनुकूलन कर लेता है। किन्तु अब वह परेशान थी। जाने क्या परेशानी थी। पूछने पर कुछ बताती भी नही थी। दिन भर मुह माथा फुलाए पडी रही और भयभीत तथा आशंकित दृष्टि से मुझे देखती रही। उसे देखकर ही कैकेयी के कोप भवन मे पड़े रहने के पौराणिक सन्दर्भ को मैं समझ पाया था। अन्त मे जब उससे भी नही सहा गया तो स्वयं ही फूट पडी "मैंने बीमा करा कर कितनी बड़ी भूल की है ।"

"मैं तो कब मे कह रहा हू।" मैंने उसे टोका, बड़ों का कहा तथा आवले का खाया बाद म ही मालूम पड़ता है।

"तुम तो जब कह रहे थे तब कह रहे थे, अब मैं कह रही हू।' वह झल्ला कर बोली, ' और वह नही कह रही हू, जो तुम कह रहे थे।

"तो तुम क्या कह रही हो ?"

"मैं कह रही हू कि बीमा कराकर मैंने भूल की है।" वह सिसक पडी, "मैं मर गई तो तुम्हे मेरे बीमे के थली भर नोट मिल जाएगे। तुम उन्हें मेरे बच्चो पर खर्च नही करोगे। मेरे ही पैसो से मेरी सौत लाओगे और मेरे ही पैसो स उसे ऐश करवाओगे ।"

वह संकट मैंने कैसे टाला होगा, यह मैं आपकी कल्पना के लिए छोड़ रहा हू

आज फिर वह मुझे उसी आशंकित दृष्टि स देख रही थी।

मैंने बहुत पूछा, पर उसने कुछ नही बताया। मुह ढाप कर पडी रही और थोडी थोडी देर के पश्चात नौकर से पूछती रही कि कोई आया तो

मैंने जब आग्रह, स्नेह तथा सम्मानपूर्वक पूछा कि वह किसकी प्रतीक्षा कर रही है तो मुझ पर खिसियानी बिल्ली के समान झपट पडी, "अपनी सौत की ।"

जैसा कि आज तक प्राय होता रहा है, थोडी देर मे ही उसका धैय चुक गया, तो वह वार्ता की मुद्रा मे आई, "सुबह किसका फोन आया था ?"

उसका स्वर बहुत रूखा था ।

"सुबह से दसियो फोन आ चुके हैं। तुम जाने किसके विषय मे पूछ रही हो ?"

उसने मुझे जलती भुनती, अगारो-लोटती दृष्टि से देखा, "तुम किससे कह रहे थे कि तुम नौ बजे से बारह बजे घर म सवथा अकेले होते हो ?"

बात मेरी समझ म आ गई। प्रात एक पाठक का फोन आया था और वह पूछ रहा था कि मैं नौकरी और घर गहस्थी के बीच लिखता कब हू ? मैंने उसे बताया था कि मैं एक बजे कालेज जाता हू और सुबह नौ बजे से बारह बजे तक घर मे अकेला होता हू—वही मेरे लिखने का समय होता है

अब इस वाक्य का अथ मेरी पत्नी कुछ और समझे, तो मैं क्या कर सकता हू । इस टेलिफोन के कारण बेचारी के सिर म दद भी हुआ कालेज से छुट्टी भी लेनी पडी

दो चार दिन का समय मिल जाता तो मैं उसे समझा भी लेता, पर अगले ही दिन सुबह सुबह फिर एक अटपटा फोन आ गया ।

"हैलो !" मैंने कहा ।

"हैलो !" उधर स एक पुरुष-स्वर आया, "आपने इद्रपुरी मे कोई जमीन खरीदी है ?"

"जी नही । मैंने कोई जमीन नही खरीदी ।"

जमीन मेरी दुखती रग है । कथा के प्लाट सैकडो मिले, जमीन का प्लाट एक भी नही मिला । पर यह कौन है जो सुबह ही-सुबह मेरा दिल

जलाने को यह सब पूछ रहा है ।

"आपने प्रभावती देवी के नाम से ज़मीन "

"अपने नाम से तो कभी खरीद नहीं सका। प्रभावती देवी के नाम से जी ! मैं किसी प्रभावती देवी को नहीं जानता।"

मैं झल्ला कर फोन रखने ही वाला था कि मेरी पत्नी कहीं से आई और उसने मुझसे फोन झपट लिया। थोड़ी देर वह बात सुनती रही, पर बोली कुछ नहीं। फिर लगा जैसे उधर से फोन रख दिया गया हो। कुछ क्षणों तक वह रिसीवर को घूरती रही और फिर उसे रखकर मुझ पर झपटी

कौन है यह प्रभावती देवी ?'

मैं क्या जानूं !' उसके हाव भाव से मैं डर गया।

"उसके नाम पर ज़मीनें तुम खरीदोगे और जानेगा कोई और !" उसने अपने माथे पर परम्परागत ढंग से हाथ मारा, 'मेरी ही किस्मत फूटी थी जो तुमसे शादी कर बैठी। मैं कहती हूं कि एक कार ले दो तो अपना कंगलापन झाड़ने लगते हो। कहां से होंगे पैसे ! पैसे तो प्रभावतियों के लिए ज़मीनें खरीदने में निकल जाते हैं। सोचा था मैं स्वयं कार खरीद लूंगी। पर अब नहीं खरीदूंगी। तुम अच्छी तरह सुन लो। कभी नहीं खरीदूंगी। कार मैं खरीदूं और उस पर घूमे प्रभावती। चुड़ल कहीं की ! नहीं खरीदूंगी मैं नहीं खरीदूंगी '

सोचता हूं, इतनी अधिक संख्या में इस गति से होने वाली त्रासदियों का सामना मैं कैसे कर पाऊंगा ? इस टेलिफोन को अब कटवा ही देना चाहिए

12 त्रासदिया चिपकने की

मुझे कालम लिखने म सरन चिढ है। कालम-लेखक मुझे कालम से वैसा ही चिपका हुआ नजर आता है, जैस जोक आदमी से चिपक्ती है या जैसे अमरीका कोरिया तथा वियतनाम पर जा चिपका था, या पाकिस्तान बगलादेश पर चिपक गया था। इतने जबदस्त ढग स चिपकते देख, मेरे मन मे कई बार यह बात आई है कि यदि ऐसे चिपकुआ की हड्डियो का चूण बनाया जाए तो वह ससार का सवश्रेष्ठ सीमट होगा, ऐसा चिपकेगा कि उतारना असभव हो जाएगा।

फिर मेरे स्नायु भी मामान्य लेखका के समान ही कुछ ऐसे कामल है कि जरा सी बात चिपक जाए तो परेशान हो उठना हू। एक जरा सी छिपकली दावार से चिपक जाए तो लगता है जैस 'शरणार्थी सहायता' वाली पाच पैस की टिकट चिपक गई है, पता नही उतरेगी कि नही। इम और स्नायुआ की बात मैंन इसलिए कही है, क्याकि लाग अपनी आत्मा पर चिपकी दुष्टता की परता को मिलवर कोटेड सौदय मान लेते है और मैं पाच पैसे की शरणार्थी सहायता भी नही सभाल पाता।

मैं सभाल पाऊ या न सभाल पाऊ, पर तथ्य यही है कि जो चीज चिपक गई, वह चिपक गई —उतरना मुश्किल ही होता है। जसे सपादक महोदय मुझसे चिपक गए तो चिपक गए 'कालम पर चिपक जाओ।' तो लीजिए साहब हम कालम पर चिपक गए। लेखक बेचारा चिपके हुए सपादक को कैस टाल सकता है।

सपादक, लेखको के सयुक्त-सघ की महाशक्ति है 'वीटो'-अधिकार से सपन्न। इस वीटो का प्रयोग सपादक दोना प्रकार स करता है। अमरीका ने बीस वर्षो तक चीन-जैसी महाशक्ति को सयुक्त राष्ट्र सघ से बाहर रखा और च्याग जैसे मकडे को महाशक्ति बनाए रखा। लेखको के ससार म

सपादक किसी भी प्रकार अमरीका स कम नही है। बडे से बडे लेखक की ओर से आखें मूद लेना और किसी भी केंचुए को बार-बार छाप कर महान लेखक बना देना। सपादक वह राजा है जो नदी पर पुल बनाता है, उसके बाद सारी चीटिया पार उतर जाती है—अपने देश क बडे प्रकाशक रेडियो, टेलीविजन, विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी, साहित्य परिषदें —ये चीटिया है, जो सपादक के बनाए हुए पुल पर से चुपचाप पार उतर जाती है। (बोल सपादक महाराज की जय !)

'चिपकना' वस्तुत लेखक का नही, सेल्समैन का काम होता है। कहते हैं बीमा एजेंट इस दृष्टि मे सबसे अधिक चतुर होते हैं। अपने देश के पुलो और बाधो का कक्रीट चाहे मुरमुरा जाए, पर बीमा एजेंट नही मुरमुराता। चिपक गया तो चिपक गया—'हजरते दाग जहा बैठ गए, बैठ गए।' लगता है अपना परपरागत क्षत्रिय धम सारा का सारा बीमा एजेंटो मे आ समाया है। एक बार उन्होने कह दिया, 'बीमा करवा लो' तो कह दिया टल नही सकता। एक एजेंट रामलुभाया से चिपक गया। कहने लगा, "यार, बीमा करा लो।"

"क्यो करा लू ?' रामलुभाया ने पूछा।

"कल तुम मर जाओगे तुम्हारी पत्नी का क्या होगा ?" एजेंट ने पूछा।

कुछ भी हो, तुमसे विवाह नही करेगी।"

"बीमा करा लो।" एजेंट कन्नी काट गया।

"नही कराता।' रामलुभाया ने उजड्डपन से कहा।

"करवा लो न यार !' एजेंट ने प्यार जताया।

रामलुभाया को गुस्सा आ गया। बोला 'नही कराता। नही कराता। नही कराता। बोर मत करो।'

तुम मर गए तो तुम्हारी बीवी विधवा हो जाएगी। बच्चे यतीम हो जाएगे। बीमा करवा लो।"

रामलुभाया ने उसे एक गाली दी। गाली की चर्चा मैं नही करूगा। मैं उन लेखको मे नही हू, जो यह समझते है कि अपने लेखन मे गालियो का प्रयोग कर वे अपनी महानता का प्रदशन कर रहे हैं। मैंने ढेरो सूअर

गदगी मे मुह मारते और कीचड मे लोट पोट होते देखे हैं, पर उनमे से एक भी सिंह नही बन पाया। अपने यहा महान् (?) लेखको ने यह समझ लिया है कि अपनी नायिकाओ के कपडे उतरवा कर वे सामाजिक क्राति कर रहे हैं। यदि किसी को नगा करना ही सामाजिक क्राति है तो स्वतत्रता से पहले अग्रेजो ने इस देश मे क्राति ही क्राति की थी। पच्चीस वर्षों से अपनी देशी सरकार भी यह ही क्राति कर रही है। पर कौरव लोग द्रौपदी के साथ ऐसी ही क्राति करते हुए हारे थे। अपनी सरकार को भी अपना भविष्य सोच लेना चाहिए। योजना आयोग को चाहिए कि वह अभी से तय कर ले कि किस पचवर्षीय योजना मे जनता को एकदम नगा करना है और किस योजना मे शासन—दुर्योधन—को भीम की गदा की चोट से मरना है। यह उनका काम है वे स्वय करें। जनता ने उन्हे भीष्म पितामह मान लिया है—सरकारें सदा स्वेच्छा से मरती हैं।

पर बात तो रामलुभाया की चल रही थी। तो रामलुभाया ने गाली दी। एजेंट ने एकदम बुरा नही माना। मुस्कराकर बोला, "यार, बीमा करवा ही लो। क्यो चाहते हो तुम्हारे बच्चे दर दर भीख मागते फिरें।"

रामलुभाया मे कुछ तेज शेष था। वह अभी एकदम 'जनता' नही हो गया था। आपे से बाहर हो गया। अपने को रोक नही सका। जोर का एक चाटा एजेंट को जड दिया।

एजेंट सूखाग्रस्त इलाके का रहने वाला था, अत 'सीकिया' था। रामलुभाया के चाटे से उलट गया और तीन गुलटनिया खाकर परे जा पडा।

रामलुभाया को होश आया। क्या किया उसने ? इस प्रकार किसी भले आदमी को मारना तो उचित नही है। पुलिस का डर उसे नही था। अपने देश की पुलिस के चरित्र से वह भली भाति परिचित था। यदि बीमा एजेंट जाकर पुलिस से शिकायत करता तो अपनी कई पालिसियो की कमीशन का बीमा उसे पुलिस के नाम करवाना पडता, तब कही वह रामलुभाया से भी पुलिस की कुछ भेंट-पूजा करवा सकता। इससे अधिक कुछ नही होने को था।

रामलुभाया अपने मन से ही डर गया था। उसके मन को ईमान—

दारी, शालीनता, शिष्टता और मानवीयता जैसे कई रोग पीड़ित किए रहते थे। उन्हीं के कारण उसे पीड़ा के दौरे पड़ा करते थे। उन रोगों की याद आई तो उसे लगा कि इससे पहले कि एजेंट क्रुद्ध होकर कोई दुर्व्यवहार करे उससे क्षमा-प्रार्थना कर लेनी चाहिए।

पर तभी एजेंट उठ खड़ा हुआ। कपड़े झाड़कर मुस्कराया और बोला "मज़ाक छोड़िए रामलुभाया। अब बीमा करवा ही लीजिए।"

रामलुभाया ने अपना सिर पीट लिया। उसने तुरंत अपना बीमा करवाया और बोला, "जैसे तू मुझे चिपका, वैसे ही सबको चिपके। जा, भगवान तेरा भला करे।

इसी प्रकार के चिपक जाने के और भी अनेक उदाहरण मेरे पास हैं पर पुनरावृत्ति के भय से मैं आपको सुनाऊंगा नहीं। यदि मंत्री किसी बात को बार-बार दुहराता है तो आप उसे 'आश्वासन', पुनराश्वासन, पुन पुनराश्वासन मान लेते हैं। पत्र की बार बार आवर्ति होती है तो आप उसे रिमाइंडर रीरिमाइंडर मान लेते हैं पर मेरे साथ ऐसा पक्षपात होने की कोई संभावना नहीं है। अत मैं पुनरावृत्ति नहीं करूंगा। मैं यह जानता हूं कि कुछ लेखकों ने अपनी हर नई रचना में अपनी पुरानी रचना को दुहराकर महानता प्राप्त कर ली है। पर ऐसी महान मृत्यु की आकांक्षा मुझे नहीं है।

पर अब आश्वासन शब्द मेरे दिमाग से चिपक गया है। मुझे याद आ रहा है। पिछले सप्ताह दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापक लोग 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सामने प्रदर्शन करने गए थे। रामलुभाया भी गया था। अध्यापक है तो क्यों न जाता? ऐसी बातों को वह काफी गंभीरता से ग्रहण करता है। उसने पाया कि अपने देश में जो व्यक्ति नारे, जुलूस तथा प्रदर्शनों को गंभीरता से ग्रहण करता है, वह 'काम से मुक्ति पा जाता है और जो गंभीरता से नहीं लेता वह दफ्तर में बैठा काम भी करता है और 'उल्लू का पट्ठा' भी कहलाता है। क्या करें युग का फैशन है, काम नहीं करना। ऐसे में जो काम करेगा उल्लू का पट्ठा तो वह अपने आप हो गया।

तो वे प्रदर्शन करने गए। जब भीड़ काफी जमा हो गई, तो वेतन-भोगी बुद्धिजीवियों को लगा कि कुछ बातें होनी चाहिए। एक ने दूसरे से पूछा, "यार! यह प्रदर्शन किसलिए है?"

"पता नहीं।" दूसरा बोला, "मेरी पत्नी कई दिनों से कनाट प्लेस जाने को कह रही थी, समय ही नहीं मिलता था। आज मैंने इधर का प्रोग्राम बना लिया। उसे कनाट प्लेस छोड़ा है और स्वयं इधर प्रदर्शन करने आ गया हूं। यह साला प्रदर्शन खत्म हो तो उसे कनाट प्लेस में कॉफी पिलाकर घर जाऊं। पर यार", वह एकदम बूढ़े गुलाब की तरह खिल गया, "ये साले प्रदर्शन होते बड़े काम के हैं। घूमने-फिरने का बैस्ट तरीका है। नहीं तो आज एक केजुअल का खून हो जाता।"

बुद्धिजीवियों में समता की भावना बहुत होती है। इस जुलूस में कोई किसी से बड़ा नहीं था, कोई किसी से छोटा नहीं था। सब बराबर थे। इसलिए कोई किसी की बात नहीं मान रहा था। कोई पंक्ति नहीं बना रहा था। कोई नारे नहीं लगा रहा था। पर अनुशासन की चिन्ता सबको थी, इसलिए सब सड़क पर उल्टे सीधे भाग दौड़ करते हुए एक दूसरे से पंक्तिबद्ध होने का आग्रह कर रहे थे। उन लोगों को देखकर कोई भी कह सकता था कि वे ऐसे टिपिकल मास्टर लोग थे, जो कान को खराचते हुए बच्चों को उपदेश देते हैं, 'बच्चो! कान में अंगुली डालना बुरी बात है।" छात्रों में अनुशासनहीनता की समस्या के जिन बहुत से कारणों को रामलुभाया अब तक समझ नहीं पाया था, वे उस दिन उस उसी प्रकार 'बुद्ध' बना गए जैसे बोधि-वृक्ष ने गौतम को बनाया था।

अपने देश के अध्यापक लोग भी देश के मंत्रियों तथा संसद सदस्यों जैसे ही महान् हैं। उन्होंने मान लिया है उसका काम दूसरों के लिए नियम बनाना और उन पर चलने का आदेश तथा उपदेश देना है। वे सारे नियम स्वयं उन पर लागू नहीं होते। वे सब परब्रह्म परमात्मा हैं जो सब नियम कानूनों से परे हैं। अपने यहां के अध्यापक लोग जलते हुए सिगरेट-बीड़ी, माचिस की तीलियां जहां-तहां फेंककर आग लगा सकते हैं गन्दगी फैला सकते हैं कागज फाड़कर इधर उधर बिखेर सकते हैं और आत्मा पर बिना कोई बोझ रखे छात्रों को सफाई का उपदेश दे सकते

उसने कमरे मे एक शरीफ आदमी को ऊदबिलाव की तरह अपनी ओर घूरते पाया। रामलुभाया का मूड बडा शालीन था, इसलिए उसने शरीफ आदमी के समान तक किया कि घर-आए का स्वागत करना ही चाहिए। घर आया हुआ आदमी अतिथि होता है। अतिथि देवता होता है। और शास्त्रो का कहना है कि देवता वहा रहत हैं, जहा नारी की पूजा होती है। आज यह अतिथि देवता इसीलिए उसके घर विराज रहा है, क्योकि उसके घर मे भी नारी की पूजा होती है। पूजा का अथ यहा मार पीट से नही है, सम्मान से है (व्यग्य लिखने मे यही तो मुसीबत है, लोग हर शब्द का अथ व्यग्यात्मक ढग से ग्रहण करते है)। खैर, रामलुभाया इस अप्रत्यक्ष तार्किक कम्पलिमेट से प्रसन्न हो गया। उसने उस शरीफ आदमी स हाथ मिलाया और पूछा, "कैसे है ?"

शरीफ आदमी ने गदगद होकर कहा, "आपकी कृपा चाहिए।"

रामलुभाया की पत्नी ने अनेक सकेत किए 'इसे लिफ्ट मत दो' पर रामलुभाया मे उस समय दुदम्य पौरुष दिपदिपा रहा था। उसने नारी की बात मानने स इन्कार कर दिया। वह शरीफ आदमी का स्वागत करता रहा। शरीफ आदमी ने बताया कि वह उसी नगर का रहने वाला है, जिसका निवासी रामलुभाया है, वह उसी स्कूल मे पढा है जिसमे रामलुभाया पढा है। अत वह रामलुभाया का 'बाल सखा' है, जैसे सुदामा कृष्ण के थे। रामलुभाया ने उस सुदामा को खाना खिलाया। सुदामा ने उससे कुछ रुपये उधार मागे। रामलुभाया न उसे धीरे से दस रुपये दे दिए। तब सुदामा बोला, "रामलुभाया बाबू! मेरा मन ठीक नही है। थोडी सी व्हिस्की होगी आपके पास ?"

रामलुभाया नाराज होकर बोला, 'म शराब नही पीता।"

सुदामा उसकी नाराजगी से हतप्रभ नही हुआ। बोला, 'नाराज न हो। मेरा लिटरेरी माइड है न, इसलिए मुझसे कोई काम होता नही है। म चाहता हू, आपके सहारे ही थोडी सी सामाजिकता मुझे भी मिल जाए। या तो आप मेरी अपने यहा रहने की व्यवस्था कर दीजिए या फिर जहा म टिका हू, वहा का किराया, एक बिस्तर और एक अच्छा-सा सूट मुझे दिलवा दीजिए।"

हैं। वे शराब पीने, जुआ खेलने, अफसियत करने का अपना अभिमान-भरा घोषणा पत्र प्रस्तुत करके भी बड़े निलज्ज भाव से घटा नीतिशास्त्र की पीक थूक सकते हैं।

पर बात प्रदशन की थी। ऐसे प्रत्येक प्रदशन के अवसर पर सरकारी आदेश से पुलिस शोभा-यात्राओ के साथ चिपक जाती है। पुलिस के दो सिपाही उस शोभा-यात्रा के साथ भी चिपक गए। रामलुभाया अत्यन्त पीडित हुआ। आज तक तो उसने यही देखा था कि दस आदमियो के जुलूस के साथ बीस सिपाही होते हैं, पर उस दिन हजार आदमियो के जुलूस के साथ केवल दो सिपाही देखकर उसकी आत्मा शतमुखी होकर उसे धिक्कारने लगी "धिक्कार है तुम लोगो के पौरुष को। हजार आदमियो को सभालने के लिए दो सिपाही ! पाच सौ आदमियो के लिए एक सिपाही। लगता है सरकार भी समझ गई है ।" रामलुभाया बडा अपमानित हुआ। यह एक और प्रमाण था इस बात का कि सरकार अध्यापको की एकदम चिन्ता नही करती।

जब जुलूस गतव्य पर पहुचा तो पिकनिक का सा मजा देने लगा। बहुत सारे भूतपूर्व प्रेम प्रसगो ने अपनी आत्मा के घावो को अपने नखो से खरौंच कर लहूलुहान कर लिया, और होश तब आया जब मच पर जोर से तालिया बजी।

साथ आए दो सिपाहियो म से एक ने रामलुभाया से पूछा, "क्यों साहब ! क्या कह गए ? तसल्ली दे गए होगे।"

"हा यार, तसल्ली।" रामलुभाया बोला।

उसे तसल्ली इस बात की थी कि वह प्रदशन मे आकर भी बिना मार खाए सही-सलामत लौटा जा रहा है। यदि कही गडबड हो ही जाती और वह पिट जाता तो उसकी पत्नी ऐसे बौडमपन के लिए उसे अवश्य धिक्कारती।

धिक्कार रामलुभाया का जन्मसिद्ध अधिकार है। पिछले सप्ताह ही एक लिटरेरी माइड आकर उससे चिपक गया था और उसे धिक्कारे जाने का कारण बना था। वह कथा इस प्रकार है—

रामलुभाया बडे अच्छे मूड मे घर आया था। दरवाजा खुलते ही

उसने कमरे मे एक शरीफ आदमी को ऊदबिलाव की तरह अपनी ओर घूरते पाया। रामलुभाया का मूड बडा शालीन था, इसलिए उसने शरीफ आदमी के समान तर्क किया कि घर-आए का स्वागत करना ही चाहिए। घर आया हुआ आदमी अतिथि होता है। अतिथि देवता होता है। और शास्त्रो का कहना है कि देवता वहा रहते हैं, जहा नारी की पूजा होती है। आज यह अतिथि देवता इसीलिए उसके घर विराज रहा है, क्योकि उसके घर मे भी नारी की पूजा होती है। पूजा का अर्थ यहा मार पीट मे नही है, सम्मान से है (व्यग्य लिखने मे यही तो मुसीबत है, लोग हर शब्द का अर्थ व्यग्यात्मक ढग से ग्रहण करते है)। खैर, रामलुभाया इस अप्रत्यक्ष तार्किक कम्पलिमेट से प्रसन्न हो गया। उसने उस शरीफ आदमी से हाथ मिलाया और पूछा, "कैसे है ?"

शरीफ आदमी ने गद्गद होकर कहा, "आपकी कृपा चाहिए।"

रामलुभाया की पत्नी ने अनेक सकेत किए 'इसे लिफ्ट मत दो' पर रामलुभाया मे उस समय दुर्दम्य पौरुष दिपदिपा रहा था। उसने नारी की बात मानने से इकार कर दिया। वह शरीफ आदमी का स्वागत करता रहा। शरीफ आदमी ने बताया कि वह उसी नगर का रहने वाला है, जिसका निवासी रामलुभाया है, वह उसी स्कूल मे पढा है, जिसमे रामलुभाया पढा है। अत वह रामलुभाया का बाल सखा' है, जैसे सुदामा कृष्ण के थे। रामलुभाया ने उस सुदामा को खाना खिलाया। सुदामा ने उससे कुछ रुपये उधार मागे। रामलुभाया ने उसे धीरे से दस रुपये दे दिए। तब सुदामा बोला, "रामलुभाया बाबू ! मेरा मन ठीक नही है। थोडी सी व्हिस्की होगी आपके पास ?"

रामलुभाया नाराज होकर बोला, "मै शराब नही पीता।'

सुदामा उसकी नाराजगी से हतप्रभ नही हुआ। बोला, नाराज न हो। मेरा लिटरेरी माइड है न, इसलिए मुझसे कोई काम होता नही है। मै चाहता हू, आपके सहारे ही थोडी सी सामाजिकता मुझे भी मिल जाए। या तो आप मेरी अपने यहा रहने की व्यवस्था कर दीजिए या फिर जहा मै टिका हू, वहा का किराया एक बिस्तर और एक अच्छा-सा सूट मुझे दिलवा दीजिए।"

रामलुभाया समझ गया कि सुदामा उससे चिपक गया है। बोला, "मै कुछ भी करने मे असमर्थ हू।"

सुदामा ने रामलुभाया को काफी धिक्कारा कि वह अपने बाल सखा की सहायता नही कर रहा है। रामलुभाया की पत्नी ने उसे धिक्कारा कि उसने उसकी बात नही मानी। रामलुभाया कृष्ण की उस दयनीय अवस्था के विषय मे सोचता रहा, जब सुदामा इसी प्रकार उससे चिपक गया होगा। कुछ समाधान पाकर वह भी अपने बाल-सखा से बोला, "तुम अपने गाव लौट जाओ बधु ! वहा तुम्हारे लिए बहुत कुछ है।"

आज रामलुभाया को ज्ञात हुआ था कि कृष्ण ने सुदामा को द्वारका मे न रखकर उसके गाव क्यो लौटा दिया था।

अब मै गम्भीर होकर राष्ट्रीय धरातल पर कुछ सोचना चाहता हू। कुछ ऐसा चिन्तन जो राजनीतिक भी हो और आध्यात्मिक भी। अर्थात लोक भी सुधारता हो तथा परलोक भी। चिन्तन जो सामाजिक भी हो और शाश्वत भी। अर्थात सामयिक होने के नाते पडौसियो की बात कहे और शाश्वत होने के नाते अपने विषय मे भी कहे। यहा मैंने अपने चिन्तन के सम्बन्ध मे कुछ दार्शनिक बातें कह दी हैं। देखा यह गया है कि जो लेखक दार्शनिक बातें एकदम नही करता उसके कारण अध्यापक तथा शोध छात्र दोनो ही परेशान रहते हैं। कृतियो मे दर्शन नही होगा तो सारी बात छात्र स्वय ही समझ लेंगे—तब अध्यापक क्या समझाएगा ? अत अध्यापक की नौकरी खतरे मे पड जाती है। और यदि दर्शन नही होगा तो शोध छात्र शोध किस पर करेगा ? इसलिए लेखक के लिए आवश्यक है कि वह अपनी कृतियो मे दर्शन अवश्य बघारे, ताकि अध्यापक की नौकरी बनी रहे तथा शोध छात्र की छात्रवृत्ति बनी रहे। जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लेखक यदि अपनी रचना को दर्शन-बोझिल बनाकर पाठक को बोर करे तो उसका यह अपराध पारलौकिक दृष्टि से क्षम्य है।

कोई लघु देश किसी महाशक्ति से चिपक जाए तो उसे गुटबदी कहा जाता है, और यदि अपना देश किसी महाशक्ति के साथ चिपक जाए तो उसे मैत्री-सधि कहते हैं। राजनीति मे देशो का महाशक्तियो से चिपकना

अनिवार्य होता है। जो देश किसी भी महाशक्ति से नहीं चिपकता, वह यतीम हो जाता है। इस यतीम होने को राजनीतिक शब्दावली में 'गुट-निरपेक्षता' कहते हैं। गुट-निरपेक्ष देश कहता है, मैं गुटों के बाहर होने के कारण किसी का भी शत्रु नहीं हूं, अतः सारी महाशक्तियां मेरी मित्र हैं। महाशक्तियां इस बात को नहीं मानतीं, उनके अनुसार वह गुट निरपेक्ष देश किसी भी गुट में न होने के कारण, किसी का भी मित्र नहीं है अतः सारी महाशक्तियां उसकी शत्रु हैं।

अपना-अपना सोचने का ढंग है। रामलुभाया एक बार किराये का मकान देखने गए। दूसरी मंजिल पर एक बरसाती के लिए मकान मालिक से बातचीत हुई। मकान मालिक ने किराया कुछ अधिक मांगा। रामलुभाया ने आपत्ति की। मकान मालिक ने बरसाती के लाभ गिनाए, "देखिए! इसमें आपको सर्दियों में दिन भर खुली धूप मिलेगी और गर्मियों में बाहर सोने के लिए खुली ठण्डी हवा।"

रामलुभाया बोले, "आप हमेशा उल्टी बात ही क्यों सोचते हैं। इस बरसाती में गर्मियों में दिन भर लू तपाएगी और सर्दियों में रात भर बरफानी हवा चलेगी।'

"सोचने-सोचने का भेद है।" मकान मालिक बोले।

मकान मालिक और किराएदार के सोचने में इसी प्रकार भेद बना रहता है। रामलुभाया ने एक और मकान देखा था। मकान मालिक ने ढाई सौ रुपये मांगे।

रामलुभाया नाराज होकर बोले, "इतनी जगह दो सौ रुपये में आम मिल रही है। आप ढाई सौ क्यों मांगते हैं?"

"पचास रुपये क्रास वेंटिलेशन के। यहां दिन भर सांय सांय हवा चलती है।" मकान मालिक ने बताया।

"हवा आपने बनाई है?"

रामलुभाया को और जिन मकान मालिकों ने अधिक किराए बताए, उनके कारण थे स्कूल पास है, बस स्टेंड पास है, अस्पताल पास है, श्मशान घाट पास है। और रामलुभाया ने सबसे एक ही प्रश्न पूछा,

"तुमने मकान बनाया है या स्कूल, बस स्टड आदि।"

मकान मालिक बडी विचित्र चीज है। वह टाउन प्लैनर के हिस्से का रुपया भी स्वय लेना चाहता है।

पर बात विभिन्न देशो की महाशक्तियो से चिपकने की चल रही थी। रामलुभाया तो यू ही बीच मे टाग अडा बैठे।

हमारी गली की महाशक्ति है बावेजा परिवार। पेट भर कर धनी हैं दो दो कारें हैं, टेलिफोन, टेलिविज़न, फ्रिज, गैस इत्यादि सारी चीज़ें तो हैं ही, गली मे सबसे स्मार्ट आया भी उन्ही की है। पति-पत्नी पढे लिखे, शिष्ट तथा आकर्षक हैं। बच्चे अच्छे स्कूलो म पढते हैं और स्मार्ट हैं। तात्पर्य यह कि स्टेटस कौंशस समाज मे महाशक्ति होने के सारे गुण उनमे हैं। बहुत सारे परिवारो ने चिपकने का भरसक प्रयत्न किया पर श्रीमती बिरमानी तथा उनका परिवार तो हाथ धोकर ही पीछे पड गया और चिपकने म सफल भी हो गया। फिर क्या था श्रीमती बावेजा का नन्हा श्रीमती बिरमानी ने पाला—उनकी टहल-खबर रखी और वे श्रीमती बावेजा की उतनी ही *प्रिय हो गईं, जितना प्रिय च्याग* काई शेक अमरीका का था। लोगो को ईर्ष्या हुई। पर तभी बावेजा परिवार कही और शिफ्ट कर गया। बिरमानी परिवार की स्थिति निक्सन के नीति परिवर्तन के बाद च्याग काई शेक की स्थिति के समान हो गई। यतीम होकर रह गए बेचारे। सारा मुहल्ला सवेदना म रो रहा है। मुहल्ले मे बाढ आने की काफी सभावना है।

लौकिक घटनाओ के वर्णन के पश्चात् अब म अलौकिकता की ओर अग्रसर हो रहा हू। अध्यात्म के क्षेत्र मे चिपकने के लिए एक ही सत्ता है। उसे ब्रह्म की सत्ता कहा जाता है। ब्रह्म स चिपकना भक्ति कहलाता है और बिल्कुल ही चिपक जाना शरणागति कहलाता है। ब्रह्म ने ससार मे कुछ ऐसी गलतफहमी फैला दी है कि जनता मान बैठी है कि उसके लिए ब्रह्म की शरण म जाना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—स्वय कुछ करने को तैयार नहा है। लोग कहते हैं कि ब्रह्म इससे प्रसन्न होता है। पता नही, ब्रह्म किस धातु का बना हुआ है, म तो ऐसे शरणागतो स बोर हो जाता हू।

मेरा बच्चा कुल पांच वर्षों का है और पूरी तरह मेरा शरणागत है। उसी शरणागति का परिणाम है कि मैं खाना खा रहा होऊंगा, तो वह पुस्तक लेकर आ जाएगा—"पापा! पढ़ दीजिए।" मैं लिख रहा हूंगा तो सिर पर सवार हो जाएगा, "पापा! गुब्बारे मे पानी भर दीजिए।" मुझे गुस्सा आ जाता है। डांट कर कहता हू, "अपने आप करो।"

वह एकदम भक्त की मुद्रा मे दीन होकर कहता है, "म छोटा हू। दुबल हू। मुझे आता नही। आप कर दीजिए।"

मैं परेशान हो जाता हू। अभी तो उसने भक्त कवियो का साहित्य पढा तक नही है। बडा होकर क्या करेगा?

वह कहता है, "पापा! पानी दो।"

मैं कहता हू, "अपने-आप ले लो, बेटे।"

वह कहता है, "आप द दो! प्लीज।"

मैं कहता हू, "अपन आप ले लो, प्लीज।"

उसकी तपस्या म हठ बढता जाता है—'प्लीज।"

मैं डाट देता हू, "ले क्या नही लेता अपने आप। नालायक!"

उसकी तपस्या निर तर चलती रहती है, "प्लीज पापा! प्लीज।"

मुझे क्रोध आ जाता है। एक चाटा लगा देता हू। वह रोने लगता है। मैं उस चुप कराता हू, "रो मत!"

वह चुप होकर कहता है, "पानी द दो न प्लीज।"

और मुझे पानी देना पडता है।

इसी प्रकार के हठपूवक चिपकने को लोग भक्ति कहते है। कितना बार होता होगा ब्रह्म इससे। तौबा!

पर इससे एक बात तो सिद्ध हो ही गई है कि यह हठपूवक चिपकना ही, जिसका आधुनिक राजनीतिक नाम सत्याग्रह है, अपनी माग पूरी कराने का एकमात्र साधन है। तभी तो लोग जुलूस निकालते है, नारे लगाते हैं, भूख-हडताल करते है हडताल करते है आग लगाते है पत्थर मारते है रेल की पटरिया उखाडते है—और सरकार उनकी बात मान लेती है।

जब आध्यात्मिक क्षेत्र की सारी तकनीक राजनीतिक क्षेत्र मे देखता

हू तो मुझे अपने देश में तपस्वी लोग बड़े-बड़े राजनीतिक नेता नज़र आने लगते हैं—विरोधी दलों में वे लोग इस प्रकार हठ के द्वारा भगवान से उचित-अनुचित वरदान ले लिया करते थे।

इस प्रकार आधुनिक राजनीति की यह दगा-तकनीक परम्परा की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है। एक लम्बी परम्परा है इसकी—वेदों में, उपनिषदों में ब्राह्मणों में आरण्यकों में महाकाव्यों में, भक्ति काव्यों में। यदि भगवान इन तकनीकों के सामने न झुके होते तो हमारी सरकार इन दगइयों के सामने क्या झुकती? दोष सारा ब्रह्म का ही है—जिसने यह सारा प्रपंच रचा। सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद गलत नहीं हो सकता। सृष्टि में सारे गुण स्रष्टा में होने ही चाहिए। स्रष्टा में वे नहीं होंगे, तो सृष्टि में कैसे आएंगे। बाप नालायक न होता, तो बेटा नालायक कैसे होता? अध्यात्म में ये बातें न होतीं तो राजनीति में कैसे आतीं? महात्मा गांधी सारा अध्यात्म राजनीति में क्यों ले आए—यह बात मैं आज समझ पाया हूं।

बातें कुछ गम्भीर हो गई हैं। बहुत अधिक चिपकने पर गम्भीरता का आ जाना एक प्रकार से अनिवार्य है। वैसे तो गम्भीरता अपने-आप में बुरी चीज नहीं है, पर मेरी एक मजबूरी है। जब किसी से कोई गम्भीर बात कह देता हूं तो सुनने वाला उजबक-सा मुंह उठाकर देखने लगता है, जैसे कह रहा हो—'अब गम्भीर बातें ही सुननी हैं तो दुनिया में तू ही रह गया था क्या?'

समझ जाता हूं कि गम्भीर बात मुझसे अपेक्षित नहीं। इसी बात पर यदि सम्पादक महोदय कह दें कि गम्भीर कालम लिखवाना था तो तुम ही रह गए थे हिन्दी साहित्य में? हम स्वयं ही लिख लेते। जब कोई स्वयं कुछ करने को तैयार होता है तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। चलो, देश का कोई आदमी तो स्वावलम्बी हुआ। नहीं तो सब अपना दायित्व दूसरे पर डाल देते हैं। समझ में नहीं आता कि भूखा आदमी ढाबे पर जाकर रोटी क्यों मांगता है और ढाबे वाला उसे क्या खिला देता है। मुझे दोनों ही स्वावलम्बी नहीं लगते। भूखा आदमी खा सकता है तो पकाने के लिए ढाबे पर आश्रित है और ढाबे वाला पका सकता है तो खाने के लिए

भूमे पर आश्रित है। पराश्रित-वृत्ति का कुछ फैशन सा चल पडा है। डाक्टर दवा दे सकता है तो स्वय बीमार क्या नही पडता ? वह क्या चाहता है कि उससे दवा लेने के लिए बीमार कोई और पडे ? लेखक लिख-कर चाहता है कि सम्पादक या प्रकाशक छापे। लिखा है तो स्वय छापता क्यो नही ? सम्पादक पत्रिका निकालकर लेखको को घेरता फिरता है—लिखो! अरे, भले आदमी, पत्रिका निकाल सकते हो तो लिख नही सकते! ये सब तो छोटी छोटी चीजें हैं, मैंने ससार की महाशक्तियो को इसी रोग का रोगी पाया है। वे हथियार बना लेते ह तो लडाई के लिए दूसरे देशो पर आश्रित हैं। अपन सैनिक दे सकते ह तो लडने के लिए धरती दूसरे की चाहिए—मैं तो महाशक्ति तब मानू जब अपने शस्त्रो से, अपनी धरती पर वे अपने ही सैनिको को परस्पर लडाए। अपने देश की सरकार इस मामले मे बडी ग्रेट है। सरकारी धरती पर सरकारी धन से सरकारी जायदाद बनाकर सरकार के ही भाई भतीजो को दे देनी है। रत्ती-भर किसी दूसरे की सहायता नही लेती। ऐसी मूर्ख नही है कि सरकारी पैसे से सरकारी विमानो पर गैर सरकारी लोगो को सैर कराए।

एक बार एक महान् आत्मनिर्भर सज्जन मेरे पास आए थे। कहने लगे कि वे कोई फिल्म बना रहे है और चाहते है कि मैं उनकी फिल्म के डायलाग लिख दू। मैं समझ गया कि मुहावरे वाले भगवान ने मेरा भी छप्पर फाड दिया है। लेखक तो फिल्म म जाने का वरदान वैसे ही मागता है, जैसे भक्त मोक्ष का। जैसे मोक्ष पाकर भक्त भगवान मे लीन हो जाता है, वैसे ही फिल्म म जाकर लेखक इस देश के जनता जनार्दन मे लीन हो जाता है। किशोर मन के लडके लडकिया, पुरुष नारिया फिल्मो के उग्र भक्त है —वे सब उस लेखक को पढते हैं। अपना देश बुद्धि की दृष्टि मे है ही किशोर—तभी तो सडियल राजनीतिक नेता उसको नचा रहे है।

व्यापारी इसका लाभ क्या न उठाए ? लोगो मे विदेशी कपडो का पागलपन बढ़ा तो व्यापारियो न विदेशी लोगो के जाघिए-बनियानें भी धो, प्रेस करवा कर शो केस मे लटका दी। उसी तरह फिल्मी साहित्य का पागलपन बढा तो प्रकाशको ने फिल्म स्क्रिप्टें ही छापनी शुरू कर दी।

जल्दी ही वह समय आने वाला है, जब फिल्मी गानों की सकलनो के डी-लक्स एडिशन लोग अपनी बेटियों को दहेज मे दिया करेंगे।

तो जब वे सज्जन मेरे पास आए, मैं प्रसन्न हो गया। कहा, "पाण्डुलिपि दे जाइए डायलाग लिख दूगा।"

वे बोले, "आप डायलाग लिख दीजिए। पाण्डुलिपि हम अपने आप तैयार कर लेंगे।"

मुझे साहित्यिक क्रोध आ गया। सोचा, दू एक झापड उल्लू के पट्ठे को

आप यहा पर साहित्य सम्बन्धी एक मौलिक प्रश्न उठा सकते हैं कि जब मैंने कह ही दिया कि मुझे क्रोध आ गया तो फिर झापड जैसे हिंसात्मक काम तथा गाली की क्या आवश्यकता थी ? क्या साहित्यशास्त्र की दृष्टि से यह पुनरुक्ति दोष नही हुआ ? साहित्यशास्त्र की दृष्टि से क्या हुआ, मैं नही जानता। मैंने इस वाक्य के माध्यम से दो बातें कही हैं—एक तो गहरा, यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रण (लोग अब इस बात को मानने लगे हैं कि एक बात को दस तरह से कहो तो वह साहित्य मे मनोवैज्ञानिक चित्रण माना जाता है तथा राजनीति मे आश्वासन) और दूसरी बात कुछ आधुनिक होने का प्रयत्न कर रहा था। मेरी रचनाओं मे आवेश आक्रोश, गाली गलौज न होने के कारण यारो ने मुझे पिछडा हुआ लेखक मान लिया है।

तो उन फिल्मी सज्जन से मैंने पूछा, "डायलाग मे क्या लिखू ?"

बोले कुछ डायलाग प्रेम के लिखो, हीरो हिरोइन के लिए, कुछ समाज सुधार के लिखो, बाप-बेटे के लिए, कुछ मार धाड के, विलेन के लिए, कुछ हसी मजाक के, कामेडियन के लिए, और कुछ नये प्रकार के डायलाग अपनी प्रतिभा दिखाने के लिए।"

मैं उनकी बात समझ गया। सोचा कुछ ऐसी मौलिक प्रतिभा दिखाऊ कि फिल्मो मे क्राति हो जाए। अपने देश मे क्रान्ति बडे निराले ढग की होती है। मेरा एक मित्र है, जो क्राति के ऐन सिरे तक पहुच गया था। उसे एक दिन भी और मिल जाता तो वह क्राति कर ही डालता। पर तभी उसके बाप की नजर उस पर पड गई और मेरा मित्र नाई की दुकान

पर पहुचा दिया गया। उसकी कास्तरो मार्का दाढी छील दी गई। शेव क्या हुई उसके हाथ से ब दूक छिन गई। क्राति धरी की धरी रह गई।

क्रान्ति के साथ बन्दूक का उतना सम्ब ध नही है, जितना दाढी का है। ससार मे जहा कही भी क्राति हुई, उसके पीछे कहीं-न कहीं कोई दाढी वाला व्यक्ति अवश्य था। लेनिन हो या कास्तरो—दाढी के बिना क्रान्ति सम्भव नही थी। माओ की क्रान्ति को लेकर मेरे मन मे आरम्भ से ही स देह रहा है। बगला देश की घटना ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। असल म दाढी के बिना क्रान्ति की फीलिंग ही नही आ सकती।

नाई की दुकान पर सारी क्रान्तिया फिस्स हो जाती हैं—इतिहास इसका साक्षी है। पृथ्वीराज चौहान या दूसरे राजपूत राजाओ का अधिकाश बल मूछो पर ही था, दाढी को वे महत्त्व नही देते थे। भीम के चचेरे भाई पृथ्वीराज चौहान के दरबार मे मूछ पर हाथ रखा तो कन्ह ने उसका सिर काट लिया। बेचारा कन्ह आधुनिक चिन्तन से वचित था, इसलिए मूछ से ही डर गया। नही जानता था कि क्रान्ति मूछो पर हाथ रखने वाले नही करते, चुपके से दाढी बढाने वाले करते है। इसका पता उन्ह तब चला होगा, जब दाढी वाले गोरी ने पृथ्वीराज के राज्य मे क्राति कर दी।

क्रान्ति के क्षेत्र म दाढी के महत्त्व को समझने वाले एक शिवाजी ही थे। उन्होने औरगजेब से बडी दाढी रख ली और दक्षिण म एक अद्भुत क्रान्ति कर दी। औरगजेब अपनी सकुचित मनोवृत्ति के कारण अपनी सेनाए ही भेजता रहा, उस इस क्षेत्र म नाई का महत्त्व कदाचित् ज्ञात नही था। नाई बडी क्राति विरोधी चीज है।

पर मैं राजनीति मे नही, फिल्मो मे क्रान्ति की बात सोच रहा था। मौलिक प्रतिभा के बल पर ऐसे ऐसे डायलाग लिखे कि पढ़कर स्वय मैं दाद देने के लिए सिर को पीटता रह गया। जब ये फिल्मी मालिक उन्हें पढकर बोले, 'इनम से बहुत सारे शब्दो के अर्थ मैं नहीं जानता।"

"तो क्या हुआ ?" मैंने पूछा।

उन शब्दो का अर्थ जनता भी नहीं जानेगी।"

"आप जनता हैं क्या ?"

'मैं जनता का सम्प्रतीक हू। आप रहने दीजिए, हम स्वय लिख

लेंगे।"

वह मुझसे बड़ी क्रान्ति कर गया—मेरे लिखे संवाद अपने आप से फिल्म में टिका दिए।

स्वयं कर लेंगे,' एक साहित्यिक शैली है। एक प्रकाशक महोदय ने दस अध्यायों वाली एक अंग्रेज़ी पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद किया 'स्वयं कर लेंगे, शैली पर। पुस्तक का एक एक अध्याय, दस अनुवादकों के पास यह कह कर भेज दिया कि आप एक अध्याय का अनुवाद करें—यदि हमें नमूना पसन्द आ गया तो शेष पुस्तक अनुवाद के लिए आप के पास भेज दी जाएगी।

दसों अनुवादकों ने एक एक अध्याय का अनुवाद करके प्रकाशक को भेज दिया। प्रकाशक ने उत्तर दिया—"आपका कार्य हमारी नीति के अनुकूल नहीं है। आप रहने दीजिए, हम स्वयं कर लेंगे।" और दसों अनूदित अध्यायों को इकट्ठा कर अपने नाम से पुस्तक छपवा ली।

13 त्रासदिया खभा-लेखन की

'श्रीवर्षा'[1] के विषय मे सबसे पहले शरदजी से बात हुई, अर्थात् शरद जोशी[2] स। यह स्पष्ट कर देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि अपने साहित्य को तो भ्रम ही मार गया है। बिलकुल स्पष्ट कर अभिधा मे न कहू तो लोग पूछेंगे ये 'शरद' कौन है—शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, सत्येन्द्र शरत् या ? और अब तो समस्या और भी गभीर हो गई है। समाचारपत्र कहते हैं कि नासिक जिला मे एक किसान आदोलन चल रहा है और उसे चला रहे हैं शरद जोशी।[3] मैं बडा हैरान हुआ कि यह शरद जी को क्या सूझा कि हिन्दी एक्सप्रेस[4] चलाते-चलाते यह नासिक-आदोलन चलाने लगे। एक्सप्रेस होती है एक रेलगाडी। लगता है वे बबई से गाडी चलाते हैं और नासिक म गाडी उलट देते हैं। यह ब्रह्म का रूप है। आप ही जन्म देता है, आप ही मारता है।

पर मै बहक गया हू। क्या करू, बिना बहके व्यग्य लिखा ही नही जाता। बहक कर लिखी गई चीज़ ही व्यग्य हो पाती है। पर इसका यह अर्थ कदापि नही है कि व्यग्यकार पाठक को बहका देता है। स्वय चाहे कितना बहक जाए पर पाठक को सीधी लीक पर रखता है। इस विषय मे अधिक नही लिखूगा, नही तो व्यग्यकार की प्रशसा म जाने कहा तक बहक जाऊ। बहकने की कोई सीमा नही है और न बहकने मे कोई दोष है, पर बहकने म एक सनातन सत्य है। आज दिल्ली के बडे-बडे राजनीतिज्ञ बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं, और मैं नहीं चाहता कि

---

1 बबई स प्रकाशित एक साप्ताहिक।

2 हिंदी के प्रख्यात व्यग्यकार।

3 नासिक के एक किसान नेता।

4 बबई से प्रकाशित एक साप्ताहिक।

मुझे कोई राजनीतिज्ञ समझ बैठे। यह कलंक मैं झेल नही पाऊगा।

तो शरद जोशी बोले, "यह श्रीवर्षा क्या होता है ? इसमे व्याकरण की भूल है। इसे श्रीमती वर्षा होना चाहिए। 'वर्षा' स्त्रीलिंग शब्द है।" मुझे उनसे सहमत होना पडा। उस समय वे नही बोल रहे थे। उनकी जिह्वा से स्वय पाणिनि बोल रहे थे। और जबसे मैंने सुना है कि पाणिनि पठान थे, मुझे उनसे सहमत हो जाना ही उचित लगता है।

वैसे भी सुखद बातचीत का ट्रेड सीक्रेट यही है कि आप बात करने मे सहमत हो जाए। इसमे कई लाभ हैं। पूरे विस्तार से तो इसका वर्णन मैं अपनी पुस्तक 'संक्षिप्त बातचीत के लाभ' मे करूगा, किन्तु कुछ लाभ आपको अभी ही बता देता हू। आप ट्रेलर देखकर ही तो फिल्म की ओर आकृष्ट होगे न!

संक्षिप्त बातचीत का पहला लाभ यह है कि बातचीत तत्काल समाप्त हो जाती है। दूसरा पक्ष कितना ही वक्ता क्यो न हो आखिर कितना बोलेगा! परिणामत न तो आपको एक मूर्ख की संगति मे अधिक देर तक रहना पडता है और न ही आपकी मूर्खता दूसरे व्यक्ति पर उजागर होती है। दूसरा लाभ यह है कि आपकी ऊर्जा कम खर्च होती है। देश मे ऊर्जा का बहुत सकट है—आप जानते ही हैं। आप अपनी ऊर्जा को संचित कर देश की ऊर्जा की कमी को दूर कर सकते हैं। मैं जानता हू कि इस ऊर्जा से न बल्ब जलते हैं न यह इंधन के काम आ सकती है, पर मैं यह भी जानता हू कि इस सृष्टि की सबसे बडी ऊर्जा मनुष्य ही है

संक्षिप्त बातचीत का तीसरा लाभ यह है कि जब आप दूसरे बात-कर्ता से विदा होते हैं, तो मन म बातचीत का माधुर्य अर्थात बतरस लेकर अलग होते है। आपका समाज के अन्य प्राणियो के प्रति मधुर भाव बना रहता है। जन संपर्क बनता है। आप अधिक पार्टियो मे बुलाए जाते हैं। आपका व्यवसाय फलता है और तब अच्छा खान पीन के कारण आपका शरीर भी फलता है। आप जब किसी का शरीर फलता देखें तो उससे पूछे बिना ही तत्काल मान लें कि उसका व्यवसाय भी फल रहा है। इस प्रकार कम बोलना अनेक अर्थों, आयामो तथा पक्षो म लाभदायक है। पतले होना चाहें तो खूब बोलिए। जमकर बोलिए। व्यक्ति को दुबला

करनेवाले ये हेल्थ क्लिनिक, 'स्लिमिंग' के नाम पर लोगों से अधिक सुलवाते ही तो हैं। कृष्णा मेनन इतने दुबले थे, क्योंकि वे लंबे भाषण देते थे। संयुक्त राष्ट्र-संघ में उनका लंबा भाषण इस तथ्य का प्रमाण है।

शरदजी से सहमत होने का एक कारण और भी था। व्यंग्यकार से सहमत न होता तो वे मुझे छीलना शुरू कर देते। व्यंग्यकार अधिक बोले न बोले दूसरे को छीलना अवश्य आरम्भ कर देता है। ऐसी बातचीत थोड़ी भी देर चल जाए तो आदमी अनुभव करने लगता है कि वह इतना छील दिया गया है कि उसके कपड़े ढीले हो गए हैं। मैं इतना जोखम नहीं उठा सकता था। कपड़ों के दो चार ही तो जोड़े लेकर बंबई गया था। बातचीत की दो चार बैठकों में सारे कपड़े ढीले हो जाते, तो पहनता क्या? फिर 'चकल्लस' से कुछ कमाने गया था। रेल भाड़े, घूमने फिरने और पत्नी बच्चों के लिए उपहार खरीदने के बाद ऐसा बचा ही क्या था, जो अपने लिए कुछ खरीद पाता।

वैसे भी कपड़ा खरीदना अब लालाजी का घर नहीं है। कपड़ा न तो विलायत से आता है और न उसे अपने देश का जुलाहा बुनता है कि वह सस्ता हो। कपड़ा अपने देश की मशीनें बुनती हैं इसलिए इतना महंगा है कि अच्छे-खासे खाते पीते लोग भी नंगे दिखाई पड़ने लगे हैं। हमारे एक मित्र हैं। पुराने वक्तों में जब वे कुंआरे थे तो किसी कन्या को आकृष्ट करने के चक्कर में अपनी कम आय में भी एक गर्म सूट सिलवा बैठे। किस्मत की मारी एक लड़की जाने उन पर मर मिटी या उनके सूट पर (परिणाम दोनों का एक ही होना था), सो उनका विवाह हो गया। विवाह होते होते गर्मियां आ गईं। गर्म सूट अल्मारी में चला गया और वे पत्नी द्वारा उपहार दिया गया खुला सा कुर्ता पायजामा पहनने लगे। जब अगली सर्दियां आईं और उनका गर्म सूट अल्मारी से बाहर आया, तो उन्होंने पाया कि इस बीच वे काफी मोटे हो चुके हैं और गर्म सूट तंग हो चुका है। नया गर्म सूट सिलवाने की बात उठी तो पत्नी ने बताया कि गर्म सूट ही तंग नहीं हो चुका—बाजार की महंगाई से बजट भी इतना तंग हो चुका है कि उसमें नया गर्म सूट समा नहीं सकता। अब या तो वे अपने पिछले गर्म सूट को ही फैलाएं या स्वयं ही तंग हो जाएं। अर्थशास्त्र

की दृष्टि से सूट को फैलाने से कहीं अधिक लाभदायक स्वयं सिकुड़ जाना था। उन्होंने समझदारी से काम लिया। कुछ भोजन को कम कर राष्ट्र के लिए धन की बचत की और कुछ नया सूट न सिलवा कर। गर्मियां आने तक वे काफी सिकुड़ गए थे और पिछली गर्मियां वाला कुर्ता पायजामा उनके लिए तंबू का काम दे रहा था। इस बार उन्हें अपने बचाए हुए धन को खाने पीने में खर्च कर स्वयं को कुर्ते पायजामे में फिट करना पड़ा। तब से बेचारे हर वर्ष ऋतु बदलने पर प्रकृति के इस सिद्धांत को सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि गर्मी में चीजें फैलती हैं और ठंड से सिकुड़ जाती हैं।

लगता है मैं फिर बहक गया। मैं लौटकर शरद जोशी से होने वाली अपनी बातचीत पर आऊं। जैसे ही मेरा ध्यान इस वैज्ञानिक तथ्य की ओर गया कि वे संपादक हो चुके हैं, मेरा उनसे असहमत होना सर्वथा अवैज्ञानिक हो गया। संपादक से असहमत होना, हिंदी के लेखन संदर्भ में सर्वथा अवैज्ञानिक है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह उसके अनुकूल नहीं है। वह इतनी बड़ी लग्जरी एफोर्ड नहीं कर सकता। आखिर उसका लिखा हुआ छपेगा तो संपादक की कृपा से ही। (बाबा) कालिदास का समय तो है नहीं कि तालपत्र का गट्ठर पास में रखा और लिखने बैठ गए। संपादक प्रकाशक का झंझट ही नहीं।

अब सोचता हूं तो समझ में आता है कि पुराने ऋषि-कथाकार वनों में क्यों रहते थे। वाल्मीकि और व्यास वन में रहते थे—तालवृक्षों के वन में। तालवृक्ष क्या थे, कागज का कारखाना था। जितने पत्ते चाहो, तोड़ो और लिखो। न प्रकाशक के पास पांडुलिपि जाती थी, न वह कह सकता था, "आपकी रचना पसंद तो बहुत आई है, पर कागज इतना महंगा है कि हम इसे छाप नहीं सकेंगे।" अर्थात आपकी रचना पसंद तो आई है, पर इतनी भी पसंद नहीं आई कि इतना महंगा कागज खरीदकर हम आप जैसे आदमी की पुस्तक छापें। छापने के लिए और लेखक कम हैं—मंत्रियों की रचनाएं छापेंगे, संसद सदस्यों की छापेंगे, पार्टी प्रमुखों की छापेंगे। और यदि लेखकों की ही छापनी होगी तो उन को

छापेंगे, जो आयकर-अधिकारी हैं, खरीद-अधिकारी हैं, पुरस्कार अधिकारी हैं, या धनाढ्य पत्निया को छापेंगे। इत्यादि-इत्यादि

इधर यह भी सुनने म आया है कि कागज महगा वहगा नही है। यह तो बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ का विरोध है। बुद्धिजीवी कागज पर लिख-लिख कर जनता को अपने वश मे करना चाहता है और राजनीतिज्ञ उससे कागज को छीनकर जनता को उसस दूर करना चाहता है। कागज ऐसा हथियार है जो बुद्धिजीवी के हाथ मे प्रहारक बन जाता है और राजनीतिज्ञ उसका प्रयोग नही जानता। इसलिए वह उस बुद्धिजीवी तक पहुचन देना नही चाहता। इसी सकट से बचने के लिए तब बुद्धिजीवी वन मे जा बैठा था। चाहता तो वह यही था कि राजनीतिज्ञ भी वनवास करे। पर राजनीतिज्ञ उसका षडयन्त्र भाप गया था। परिणाम यह हुआ कि अयोध्या के युवराज रामचन्द्र के पश्चात् कोई राजनीतिज्ञ वनवास के लिए नही गया। राज्य निष्कासित भी हुआ तो एक राजधानी से दूसरी राजधानी म ही गया। तहरान मे उडा तो वाशिंगटन पहुचा और वाशिंगटन से उडा तो काहिरा रुका। वन की दिशा म उसके पग कभी नही बढे। झक मारकर बेचारे बुद्धिजीवी को ही नगर म लौट आना पडा। पर वे सब पुरानी बातें है। हम तो पैदा ही हुए हैं सपादकों प्रकाशकों के काल म। और सपादक प्रकाशक भी कैसे—जो तनिक भी मतभेद नही सह सकते।

सहमत होने का एक कारण और भी था। उनकी बात स लगा कि हिन्दी पत्रकारिता म एक नया विहान आ गया है—नया सवेरा। मानो क्रान्ति हो गई हो। एक युग का अन्त हुआ और एक नये युग का आरम्भ हुआ (मैं जानता हू कि मेरी भाषा पर्याप्त काव्यात्मक और क्रान्तिकारिणी नही है पर आप इसका प्रभाव कुछ-कुछ वैसा ही ग्रहण करें)। लगा, अब तक हिन्दी म पुरुष साप्ताहिको की भरमार थी—धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, रविवार—सभी पुरुष, एक-आध तो श्रीमती होनी चाहिए। मेरे मन मे 'श्रीमती वर्षा' के लिए सहज आकर्षण पैदा हो गया। पुरुषों की नीरस भीड म एक स्त्री का सरस व्यक्तित्व दिखाई पडे तो कौन आकृष्ट नहीं होगा। और यदि कोई नही ही होगा, तो यह उसी का दोष माना जाना चाहिए। उसके जीवन म यदि सरसता, सौन्दर्य, कोमलता इत्यादि का

महत्त्व नहीं है तो उस शुष्क मूढ़ को कोई क्या कहे ! अपना तो क्षेत्र ही साहित्य का है, जहां सौंदर्य और कोमलता की भनक पड़ते ही लार टप काने की परम्परा है। तो इस परम्परा को कौन तोड़े और आखिर क्या तोड़े ?

वैसे अपने यहां पर, स्त्री-आकर्षण में भी 'स्यात्‌वाद' चलता है। वह अच्छी बात है भी और नहीं भी। कुछ लोग आकृष्ट होना ही नहीं चाहते, और कुछ से आकृष्ट हुए बिना रहा नहीं जाता। आखिर तो आकर्षण और विकर्षण सहज वृत्तियां हैं। जो दल शासन संभालता है, उसकी ओर आकर्षण सहज ही है, और जब एक की ओर आकर्षण होता है तो एकनिष्ठा के आधार पर अन्य से विकर्षण हो ही जाता है। इसमें अपने और पराए का क्या प्रश्न है ? पत्नी हो या पार्टी—अपनी हो या पराई—जो आकृष्ट कर ले कर ले, जो न कर पाए, वह न कर पाए।

कभी कभी मुझे लगता है कि जिस मनोवैज्ञानिक ने सहज वृत्ति कहा है, वस्तुत वह पाशविक वृत्ति है। पर यह समझ में नहीं आया कि यह सारी सहज वृत्तियां साहित्यकारों की ही इतनी फलती फूलती क्यों हैं ! इन पाशविक वृत्तियों को गौरवान्वित करने का महादायित्व साहित्यकारों के दुर्बल कन्धों पर ही क्यों डाला जाता है पर इस बात को इतना खींचने का क्या लाभ ? बात तो श्रीमती वर्मा की ओर आकृष्ट होने की था। इस आकर्षण में यदि मेरी पत्नी को आपत्ति नहीं है, और श्रीमती वर्मा का पति भी यदि कोई बाधा नहीं नहीं कर रहा, तो चलने दो इस आकर्षण को।

पर यह आकर्षण छायावादी तो है नहीं कि इसका कहीं कोई प्रभाव न पड़ता। प्रभाव का पता तो हमें तब चला, जब सम्पादक ने कहा, कालम लिखो।'

कालम को मैं कभी ठीक से समझ नहीं पाया। इसका कारण है मेरा हिन्दी प्रेम। अंग्रेजी का शब्द सुनते ही उसका हिन्दी अनुवाद कर देता हूं। एक बार मैंने नो स्टोन अनटर्न्ड' का [illegible] [illegible] दना' कर डाला था। तब कई इंटें मेरे सि[illegible] [illegible]

अनुवाद ऐसे ही होते है, पर यह मुसीबत मेरे ही सिर क्या ? 'डैड स्लो' का अनुवाद सब ही 'धीरे धीरे मरो' करते है—उन्हे कोई कुछ नही कहता।

दुनिया अपनी बात नही छोडती और मैं अपनी आन नही छोडता। मैंने 'कालम' का अनुवाद हिन्दी म किया 'स्तम्भ'। तब मित्रो ने झाडा, 'क्या सस्कृत बोलते हो। यह नही कि चलती-फिरती हिन्दुस्तानी मे बताओ। ससुर बोलेंगे, तो बोलेंगे स्तम्भ।"

मैं सरलीकरण के इस नारे के प्रभाव म आ गया। जानता हू कि जटिल, वक्र और क्लिष्ट बात कहने वाला ही विद्वान माना जाता है। पर आजकल के विद्वानो को जैसे भ्रष्ट होते देखा है, उससे विद्वान बनने की इच्छा और कामना तो दूर की बात—साहस ही नही होता। भीरु आदमी हू, इसलिए सामान्य जन ही बना रहना चाहता हू। हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाने के चक्कर मे 'स्तम्भ' को बदल दिया और कहा 'खभा'। तो साहब! 'खभा' लिखना तो कठिन काम है ही। किसी समय कृपा प्रिय यदा ने एक उपन्यास लिखा था, 'पचपन खमे लाल दीवारें।' लाल दीवारें तो क्या यहा तो लाल किला भी था, पर साहित्य मे पचपन खम्मे पहले नही थे। बाद मे भी नही हुए। और मैं तो एक खमे के चक्कर को लेकर ही घनचक्कर हो रहा हू।

आम आदमी का कोई मित्र मिलता है तो पूछता है, "क्या हाल है ?" आम आदमी कहता है, 'ठीक हू।" मित्र पूछता है, 'और फिर ?' आम आदमी कहता है "और सब ठीक है।" मित्र दो तीन बार "और फिर ?" "और फिर ?" पूछता है और अन्त मे 'अच्छा फिर!' कहकर हाथ हिला कर विदा हो जाता है। पर लेखक का मित्र मिलता है तो पूछता है "क्या लिख रहे हो ?" बस लेखक का मन फुदकने लगता है और जीभ मचलने लगती है। लेखक कभी "सब ठीक है" कहकर मित्र को नही टालता। कहता है, "उपन्यास लिख रहा हू।" और उसके पश्चात मित्र पूछे-न-पूछे, लेखक उसको उपन्यास की कथा सुनाएगा, कथानक की मौलिकता और अभूत-पूर्वता की चर्चा करेगा, चरित्रो के विषय में भी बताएगा। लेखक स उसके बच्चो का हाल मत पूछो, पर उसके लेखन के विषय म भरपूर सुनते जाओ। पता नहीं क्या रोग है इस लेखक को। जिस विषय मे हजारा

पृष्ठ लिख लेगा, उस पर ही बोलता जाएगा। मन क्या नहीं भरता लेखक का ? न मन भरता है, न पेट। ऊबता ही नहीं किसी बात से—न अपनी यात्रा से, न अपनी मजबूरियों से, न अपनी चालाकियों और धूर्तताओं से।

पर वास्तविक मजा तब आता है जब लेखक को मित्र में स्थान पर कोई और लेखक मिल जाता है। उनकी बातचीत कुछ ऐसी होती है

"क्या लिख रहे हो आजकल ?"

"उपन्यास लिख रहा हू।"

"अरे उपन्यास भी कोई लिखने की चीज है कविता क्यों नहीं लिखते? कभी पूर्वी यूरोप के देशों की कविताएं पढ़ी हैं ? नहीं ! मैं आजकल अनुवाद कर रहा हूँ। उपन्यास कौन पढता है आजकल ! सब कविताएं पढ़ते हैं और वे भी पूर्वी यूरोप की कविताएं। उपन्यास लिखकर क्या तुम कभी चेकोस्लोवाकिया या बुल्गारिया या हंगरी जा सकते हो ? कभी नहीं ! पर उनकी कविताओं का अनुवाद करके जा सकते हो।"

यह उत्तर केवल उपन्यास-लेखक के लिए ही नहीं है। लेखक कुछ भी लिख रहा हो, उसको आगे से ऐसा ही उत्तर मिलता है। मैं इस प्रकार के उत्तरों से डरकर बहुधा कह देता हू, "आजकल कुछ नहीं लिख रहा। आराम कर रहा हू।"

उत्तर मिलता है, "बीमार हो क्या, ? या बूढे हो गए हो ? बूढे लोग आराम करते हैं। आराम ही करना है तो एक आरामकुरसी खरीद लो। पड़े रहा करो। आराम हो जाया करेगा।"

पता नहीं, यह विशेषीकरण के युग के कारण है या मित्र लेखकों की वाचालता। आपको कोई भी काम अपने ढंग से नहीं करने देंगे। हर बात में मुफ्तिया सलाह देंगे। यानी पलंग पर पड़े रहकर आराम नहीं करने देंगे, सोफे पर लेट कर आराम नहीं करने देंगे। आराम करना है तो आराम कुरसी ही खरीदनी पड़ेगी। मुझे यह कोई षड्यन्त्र लगता है। लोग जानते हैं कि महगाई बहुत बढ गई है। हर चीज महगी है। बडे-बड़ो का दिवाला पिट गया है। लेखक बेचारा क्या खाकर नई आरामकुरसी खरीदेगा। न आरामकुरसी खरीद पाएगा न आराम कर पाएगा।

अपने विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालो के लिए इस 'स्तम्भ-लेखन' ने मुझे

एक नया उत्तर उपलब्ध करा दिया है।

कोई पूछता है, "क्या कर रहे हो?"

उत्तर देता हूं, "सभा लिख रहा हूं।"

अगला उजबक-सा मेरी शक्ल देखता है और बात टाल देता है। बात टालने की सबकी अपनी-अपनी कला है। उस कला का विश्लेषण फिर कभी करूंगा। अभी तो बात उस उत्तर की है। मेरी दृष्टि तो उस उत्तर के बाद मित्र-लेखकों के चेहरों की झेंप को खोजती है और प्रसन्न होती है। लगता है कि मैं पर-पीड़न रति का शिकार हो रहा हूं।

साहित्यकार के साथ 'पराया दुख' का पुराना सम्बन्ध है। यशपाल जी की कहानी का नाम 'पराया सुख' है, पर मैं पराये दुख की बात कर रहा हूं। पहले साहित्यकार 'पर-दुख कातर' हुआ करता था, अब वह 'परपीड़न आतुर' होने लगा है, जैसे मैं हो गया हूं। प्रत्येक व्यंग्यकार हो गया है। जब देखो किसी न किसी को छेड़ता नोचता-खरोचता रहता है। उसके व्यंग्य की मार से लोग जितना तड़पते हैं, वह उतना ही प्रसन्न होता है। इसी को तो कहते हैं 'पर-पीड़न-आतुर'। पर सामान्य साहित्यकार ऐसा नहीं होता। उसकी ईर्ष्या का पात्र तो दूसरा साहित्यकार ही होता है। इसीलिए वह अन्य लेखकों के सिवाय और किसी को दुखी नहीं देखना चाहता। वह अपनी बिरादरी के बाहर 'पर-दुख-कातर' होता है और बिरादरी के भीतर 'पर दुख-आतुर'।

का विशिष्ट आदमी या व्यापार और उद्योग का विशिष्ट आदमी।

पर एक दिन मुझे भी अपना 'सवा किलो' मिल गया। यह 'सेर को सवा सेर' मिलने वाला मुहावरा ही है। मैंने उसे मीट्रिक सिस्टम म बदल दिया है। (यह मुहावरा का आधुनिकीकरण का क्षेत्र है। पोगापंथी लोग इस पर नाक भौं न चढ़ाएं।)

तो जब मेरा सवा किलो मुझे मिला और मैंने अपने अज्ञान म कह दिया कि मैं खभा लिख रहा हू तो उसने नाक भौं चिढाने की जगह आखें चढाई और डपट कर बोला, "खभा लिख नही रहे हो, खभा नाच रहे हो।"

यह बताने की आवश्यकता तो नही है न कि खभा कौन नाचता है ?

मित्र के जाने के पश्चात मैंने खभे के विषय मे भी अनेक बातें सोची है और खभा लेखन के विषय म भी। जितना सोचता जाता हू, उतना ही जी का जजाल बढता जाता है।

एक कहानी बचपन म सुनी थी, आपने भी सुनी होगी। एक व्यक्ति ने एक प्रेत को अपने वश मे कर लिया था। प्रेत वश मे तो हो गया पर बोला 'मुझे काम दो। जब तक काम होगा करूगा। जब काम नही होगा, तुम्हारी गदन मरोड दूगा। उस व्यक्ति ने एक खभा गाड दिया था और उस प्रेत को आदेश दिया था कि जब तक दूसरा कोई काम न कहू इस खभे पर चढ और उतर।' बेचारा प्रेत अपने वचन म बध गया और बदर के समान खभे पर चढने और उतरने मे जीवन व्यतीत करने लगा।

मुझे लगता है कि जब किसी सपादक को भी कोई लेखक प्रेत के समान काम करता दिखाई पडता है तो वह उस वश मे कर लेता है। सपादक के लिए लेखक को वश म करने मे क्या कठिनाई है। पत्रिका तो है ही वशीकरण मत्र। जहा सपादक ने लेखक की रचना छापी, उसकी प्रशसा छापी, उसका इटरव्यू छापा, उसका चित्र छापा, दो चार मीठी मीठी बातें की, कि लेखक का प्रेत सपादक के वश मे हो गया। और तब सपादक अपना दाव चलाता है— 'खभा लिखो!'

गायक कौए के मुख से गिरे हुए रोटी के टुकड़े को लपकने वाली लोमड़ी के समान लेखक 'खभा लेखन' को लपकता है, पर थोड़ा सा ही सोचने पर वह अपनी स्थिति समझ जाता है। वह तो खभे से बध गया है और अपने सारे काम धधे छोड़ कर प्रेत के समान खभा लेखन का उतार चढ़ाव नाप रहा है। वह विश्राम करना चाहता है पर नही कर सकता, क्योंकि उसे अगले अक के लिए सामग्री भेजनी है। वह कुछ और लिखना चाहता है—पर पहले खभे के लिए लिख पाए तो कुछ और लिखे। वह देखता है कि उसके लेखन मे वैविध्य नही रहा, वह आवृत्ति कर रहा है, वह जड हो गया है पर क्या करे ? खभे से बध कर और हो ही क्या सकता है ! खभे पर तो चढ़ा और उतरा ही जा सकता है।

तभी मेरी समझ मे आया कि किसी को उसके वास्तविक काम से हटा कर अन्यत्र व्यस्त कर देने के लिए यह खभा बडी उपयोगी वस्तु है। खभे का रूप कोई भी हो सकता है। खभा सप्रदाय का भी हो सकता है और भाषा का भी, क्षेत्रीयता का भी हो सकता है और जातीयता का भी। राजनीतिज्ञ बडी चतुराई से देश की जनता के लिए नये नये खभे गाडता रहता है और जनता उन पर चढती उतरती रहती है। लोग कहते हैं कि हमे रोटी दो और राजनीतिज्ञ धर्म और सप्रदाय का खभा गाड देता है। जनता कहती है, 'हमे न्याय दो' और राजनीतिज्ञ राष्ट्रीयता का खभा गाड देता है। सामान्य जन रोटी और न्याय को भूलकर सप्रदाय के खभा पर चढ़ने उतरने लगता है।

जाने इन खभा से मानव जाति कब मुक्त होगी !

14 त्रासदिया एक परीक्षक की

प्रधानमत्री ने देश के किसानो को और कुलपति न डा० रामलुभाया को दिल्ली बुलाया।

'किसानो ने क्या किया, वह अलग बात है, पर डा० रामलुभाया ने बुलावा आने पर टिकट खरीद ली। यात्रा के लिए गाडी मे अपना स्थान आरक्षित करा लिया था। पर, जब वे दिल्ली जाने के लिए स्टेशन पर पहुचे, तो उन्होने देखा कि जिस बथ पर सोते हुए वे अकेले दिल्ली जाना चाहते थे, उस पर बैठकर छ किसान और छ लाठिया—मिलकर दिल्ली जा रहे थे। कडक्टर ही क्या रेलवे का कोई आदमी भी दिखाई नही पड रहा था।

'मुझे दिल्ली जाना है भाई!" वे रुआसे होकर बोले।

तो चलो न!' छ के छ किसान कोरस में बोले।

"तो मेरी सीट स उठो न!"

रामलुभाया की यह बात किसानो को नही भायी। वे मुह बना कर बोले, 'हमने तो दिल्ली जाने के लिए किसी को सीट से नही उठाया।"

"पर यह सीट तो मैंने रिजव कराई है।' रामलुभाया फिर बोले।

'रिजव कराई है।' एक नया किसान आगे बढ आया, 'तुम साले अकेले दिल्ली जाओगे और इन छ को यही उतार जाओगे।" उसने रामलुभाया को घूरा, "तुम साथ चलो तो प्रधानमत्री के सात किसान दिल्ली जाएगे। तुम अकेले जाओगे तो छ किसान कम हो जाएगे। तुम प्रधानमत्री के विरोधी हो क्या?"

रामलुभाया ने आसपास देखा और डर गए। प्रधानमत्री के विरोधी होने का साहस वे नही कर पाए। बोले, "नही! मैं तो किसान रैली म जा रहा हू।'

"तो चलो !"

"कैसे चलू ?" अभ्यासवश फिर रामलुभाया के मुख से निकला।

"किसान-पद्धति से चलो।" उत्तर मिला।

रामलुभाया किसान पद्धति से जब दिल्ली पहुचे, तो वेश-भूषा से पूरे किसान लग रहे थे। गाडी चौदह घंटे लेट हो गई थी। स्टेशन पर उन्हे लेने कोई आया नही था। जिस मौखिक परीक्षा के लिए वे दिल्ली आए थे, उसका समय भी निकल गया था। फिर भी उन्होने भैया के घर जाकर कपडे बदल ही डाले। भैया पुलिस मे डी० एस० पी० थे, इसलिए उनका घर पुलिस लाइन्स मे था। और दिल्ली विश्वविद्यालय पुलिस लाइन्स से अधिक दूर नही है। वे विश्वविद्यालय मे सीधे कुलपति के सामने जाकर खडे हो गए।

"जाओ ! जाओ ! यह लाल किला नही है।" कुलपति रुष्ट स्वर मे बोले।

रामलुभाया कुछ समझ नही पाए। बोले, "जी !"

"कुतुब मीनार भी नही है।"

"मैं समझा नही।" रामलुभाया बोले "वह मौखिक परीक्षा ?"

"दिल्ली मे देखने लायक वे ही स्थान हैं भाई।" फिर कुछ सोचकर कुलपति बोले, 'किसान-रैली मे आए हो ?"

"नही जी !"

"किसान नही हो ?"

"नही जी ! मैं हू डा० रामलुभाया, फ्राम पटना यूनिवर्सिटी।"

"किसान नही हो ?" कुलपति को विश्वास नही हो रहा था।

"नही !"

'तो धोती क्या बाधे हो ?"

"धोती बाधने से कोई किसान हो जाता है क्या ?"

"हा ! हो जाता है।" कुलपति पूरे आत्मविश्वास के साथ बोले, "किसान रैली मे लाखो किसान लोग धोती बाध कर हो गए हैं।"

"राष्ट्रपति भी तो धोती बाधते हैं।" रामलुभाया को और कोई तर्क नही सूझा।

"वे भी किसान ही हैं।" कुलपति बोले, "उनकी अपनी मान्यता है कि मूल रूप से वे किसान ही हैं वैसे बाई दि वे राष्ट्रपति भी हैं।"

रामलुभाया को भी बात सूझ गई। बोले, "तो मैं बाई दि वे यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर हूं। इस समय अपना मूल काम किसानी को छोड बाई दि वे वाला काम करने आया हूं। अर्थात् आपने मुझे पी एच० डी० के एक शोधार्थी की मौखिक परीक्षा लेने के लिए बुलाया था।"

"तो हिन्दी डिपाटमेंट का काम होगा।"

"जी हां।"

"मैं पहले ही समझ गया था।" कुलपति अपनी समझ पर प्रसन्न हुए "वे ही लोग ऐसी भाषा बोलते हैं।"

"अच्छा तो अब उस शोधार्थी अर्थात कैंडीडेट को बुलाइए। परीक्षा हो जाए।" रामलुभाया बोले।

"वह लडका तो घर चला गया है।" कुलपति बोले, "तुम आए जो नही।"

तो कल फिर हो जाएगी परीक्षा।"

"नो डा० रामलुभाया!" कुलपति रामलुभाया को घूरकर बोले, "कल सुबह आठ बजे एकेडेमिक काउंसिल की मीटिंग है। तुमको अगर अपना रेल भाडा और परीक्षक की फीस लेनी है, तो सुबह आठ बजे से पहले उसकी परीक्षा ले लेना।"

तो उस लडके को खबर भिजवाइए कि शाम को वह आ जाए।"

"उसके पास टेलिफोन नही है।" कुलपति बोले।

"तो तार भिजवाइए।"

"तार शाम तक नही पहुंचेगा।" कुलपति बोले, "यह इंडिया है।"

रामलुभाया के मस्तिष्क मे खतरे की घंटी बजने लगी। लडके का तो कुछ नही बिगडेगा, उसकी परीक्षा तो कभी-न कभी हो ही जाएगी, पर रामलुभाया के सात सौ रुपये डूब जाएंगे।

"तो आप उसकी खोज करवाइए। उसे किसी प्रकार सूचना भिजवाइए।" रामलुभाया कुछ नाराज होकर बोले, "यह आपका काम है।"

कुलपति ने उन्हें हल्के से घूरा और अत्यन्त शांत स्वर मे बोले,

"डा० रामलुभाया ! अपनी औकात पहचानो। तुम्हें परीक्षक मैंने बनाया है।"

'यस सर !' रामलुभाया अपनी औकात पहचान गए।

मुह लटकाए डा० रामलुभाया पुलिस लाईंस मे भैया के घर पहुंचे तो पाच बज चुके थे।

"किसान रैली मे घिर गए थे क्या ?" भैया ने पूछा।

'नहीं ! कुलपति ने डाटा है।"

"मारे ससुर के दो डडे !" भैया का पुलिसियापा तेज जाग उठा, "हमारे यहा होते हुए तुम्हे कोई कैसे डाट सकता है।"

रामलुभाया ने भैया को सारी बात समझाई।

"तो अब क्या करना है ?" भैया ने पूछा।

"वह लडका किसी तरह मिल जाता तो !" रामलुभाया बोले, "पर उसके घर टेलिफोन नहीं है और उसका घर बहुत दूर है।"

"उसका पता है ?"

"हा ! पता तो है।"

"तो दो !"

रामलुभाया ने लडके का पता दे दिया।

भैया ने पता देखा, "हू ! कालकाजी ! अच्छा ठीक है।"

भैया ने टेलिफोन उठाया। कालकाजी थाने का नम्बर मिलाया, "हैलो सक्सेना ! हा भाई मैं बोल रहा हू डी० एस० पी० लाईन्स ! सुनो एक लडका है तुम्हारे इलाके मे। उसने पी एच० डी० का थिसिस जमा किया है। उसे रात तक मेरे घर पर हाजिर करो।'

"यस सर !" उधर से सक्सेना ने कहा 'पता बता दीजिए। शाम तक साला सिर के बल हाजिर होगा।"

भैया ने पता लिखा दिया और सक्सेना ने कार्रवाई चालू कर दी।

"मोतीराम !" उसने सिपाही को पुकारा।

"जनाब !" मोतीराम ने आकर सलामी ठोकी।

"यह एक व्यक्ति है राजाराम!" सक्सेना ने बताया, "इसने पी एच०

डी० का थीसिस जमा किया है, इसे डी० एस० पी० लाइन्स के सामने हाजिर करना है। जाकर लाओ इसको। साला सीधे से न आए तो बाध कर लाओ।"

मोतीराम चल पड़ा। उसे आज जल्दी घर जाना था, पर अब यह काम आ पड़ा।

"अब तक तो साले गाजा, चरस, अफीम, चीनी, सीमेंट, सोना चादी जमा करते थे," वह सोचता हुआ जा रहा था, "अब थीसिस भी जमा करने लगे। पता नही, कैसा नशा है यह साला।"

जब तक मोतीराम राजाराम के घर तक पहुचा, तब तक उसका पारा काफी चढ चुका था, 'भरी गर्मी मे खटा दिया सालो ने।'

उसने भरपूर गुस्से मे दरवाजा खटखटाया। एक महिला ने दरवाजा खोला और एक वर्दीधारी सिपाही को खडा देखकर चौंकी, "क्या बात है ?"

"बात क्या है ?" मोतीराम चिढकर बोला, "थीसिस जमा किया है या नही ? कहा है राजाराम ? बुलाओ उसको।"

महिला केवल इतना ही समझ पाई कि सिपाही राजाराम को पूछ रहा है। बोली, "वे घर पर नही हैं।"

"जब हम द्वार पर खडे हो तो कोई भी घर पर नही होता।" मोतीराम बोला, "हम ऐसे ही नही टल जाते। हम रोज ही तुम जैसा से वास्ता पडता है। बताओ, कहा है वह, उसे शाम तक थाने मे हाजिर करना ही है।"

महिला ने कुछ साहस बटोर कर कहा, "तुम तो ऐसे कह रहे हो, जैसे उन्होने कोई अपराध किया है।"

"अपराध नही किया क्या ?" मोतीराम ने डाटकर पूछा, "थीसिस जमा किया है या नही ?"

किया है।"

'तो और अपराध क्या होता है ?" मोतीराम ने रौब दिखाया, "लाओ, उसे हाजिर करो नही तो घर की तलाशी लूगा।"

भीतर स घर के लोग आ गए और बाहर से मुहल्ले के। शोर मच

गया—"क्या हुआ ?"

"थाने से राजाराम की बुलाहट है।"

"क्या ? क्या किया उसने ?"

"थीसिस जमा किया है।"

मुहल्ले के चौधरी बीच मे पडे। मोतीराम को विश्वास दिलाया कि राजाराम सचमुच घर मे नही है। इस बात की जमानत ली कि वह भाग कर कही नही जाएगा। घर आते ही उस थाने म हाजिर किया जाएगा।

"तो बताओ, वह कहा गया है ?"

लोगो ने महिला की ओर देखा।

महिला ने पता बता दिया।

मोतीराम पता लेकर थाने पहुचा। रपट दी, "मुलजिम फरार है घर वालो ने यह पता दिया है।"

सक्सेना ने मोतीराम को डाटा, "तो थाना क्या तुम्हारी माशूका का घर है ? यहा लौट कर आने की क्या जरूरत थी। जाओ जनकपुरी जाओ और उस उल्लू के पट्ठे को लेकर आओ।"

मोतीराम मन ही मन राजाराम को, सक्सेना को और अपनी नौकरी को गालिया दता हुआ जनकपुरी के थाने पहुचा। वहा से एक सिपाही साथ लिया और बताए हुए पते पर जा धमका।

अपने मित्र के साथ, उसके ड्राइग रूम मे बैठा हुआ राजाराम पकड लिया गया।

"चल बे।"

"क्यो भाई ! मैंने क्या किया है ?"

"थीसिस जमा किया या नही ?"

"हा ! थीसिस तो जमा किया है।" राजाराम बोला, "आज मौखिक परीक्षा भी होनी थी, पर परीक्षक ही नही आया। अब सोच रहा हू, इस वप डिग्री कैसे मिलेगी।"

मोतीराम ने उसे एक धौल जमाया, "चल बे चल ! सब कुछ जाएगा। थाने मे तेरी पूछताछ सक्सेना साहब करेंगे "

"पर उसके लिए तो डा० रामलुभाया आने वाले थे।" राजाराम घिघियाया "तुम लोग मुझे कहा ले जा रहे हो ?"

'रामलुभाया को ही हम थानेदार का डडा कहते हैं।" मोतीराम न उस धक्का दिया, 'और डिग्री नो हम देंगे ही तुझे। आज क्या, अभी ! सारी डिग्रिया देंगे। थड डिग्री समेत।"

राजाराम और उसका मित्र शोर मचाते रहे, पर वह शोर दुल्हन की विदाई पर लडकी वाला का रोना ही सिद्ध हुआ। राजाराम को तो मोतीराम घसीट कर ले ही गया।

सक्सना के सामने राजाराम हाजिर किया गया, तो उसने ऊपर से नीचे तक उसे परखा, साले ! देखने म तो बडे मस्कीन स लगते हो पर हो लालबुझक्कड।" उसने मोतीराम की ओर देखा "पहनाओ साले के हाथ म लोहे की चूडिया, और भी हसीन लगगा। अबे, यह जमाखोर है। थीसिस जमा करता है साला।'

थानेदार साहब ! " राजाराम ने कुछ कहना चाहा।

'चुप बे ! ' सक्सेना ने उसे डाट दिया, "जो कुछ कहना है, डी० एस० पी० साहब के सामने कहना।"

सक्सेना ने फोन मिलाया 'सर ! मुल्जिम थाने म खडा है। अभी भेज दू ? बडी मुश्किल स हाथ आया है। जनकपुरी तक जाना पडा।"

वह मुल्जिम नही है।' डी० एस० पी० बोले, पर उसे अभी भेज दो तुरत ! घर भी मत जाने देना। सीधे यही भेजो। देर हो गई तो गजब हो जाएगा।"

"मैं मामले की गभीरता समझता हू साहब !" सक्सेना बोला, "आपके अडर काम करके कुछ सीखा है साब हमने ! अभी भेजता हू।'

"यू आर ए गुड ब्वाय !" डी० ० साहब

"तुरत भेज दो। हम इतजार कर र

डा० रामलुभाया ने राजाराम

से जान आई—उनके सात सौ रुपये

उन्होने पहला तो

15 त्रासदिया एक नये वनवास की

प्रत्याशी ने अपना नाम बताया और चपरासी उसे अन्दर ले गया।

एक बडी सी मेज के पीछे, गोल घूमने वाली, एक गद्दी वाली, शानदार कुरसी पर भद्दे-से साहब बैठे थे, और उनके साथ एक भद्दी सी बैंत की कुरसी पर एक शानदार सुदरी बैठी थी।

प्रत्याशी ने बारी बारी दोनो को गुड मार्निंग और नमस्ते की। आजकल बडा चक्कर है। सामने बैठे आदमी को देखकर कहना बडा मुश्किल है कि नमस्ते से प्रसन्न होगा या गुड मार्निंग से। पहले व्यक्ति की वेशभूषा कुछ सकेत करती थी। अब वह धोखा देती है। अच्छे-अच्छे सूटों वाले हाथ जोड कर 'नमस्कार' कर देते हैं, और धोती कुर्ते वाले गुडमार्निंग से नीचे बात नही करते।

प्रत्याशी को अपनी किसी बात का उत्तर नही मिला। वह अपने मन मे (स्वगत) बोला 'साला, रूठे तुम आपस मे हो। उत्तर मेरी नमस्ते-गुडमार्निंग का नही देते। पर प्रकट बोला "सर! कल ही आपका पत्र मिला। आपने मेरी नियुक्ति इस दफ्तर मे होने की सूचना दी थी। आज मुझे ज्वाइन करना है। मैं उपस्थित हू।"

साहब मौन रहे।

"कल वाले आर्डर के पश्चात दूसरा आर्डर तुमको नही मिला। वह यह है।" साहब को कुछ न बोलते देख सुदरी बोली।

उसने वह कागज बढा दिया।

प्रत्याशी ने कागज थाम लिया। खोलकर (स्वगत) पढा 'हेड आफिस से तुम्हारा स्थानातरण आज से छत्तीसगढ के गाव ददकऊ मे किया जाता है।'

पर मैंने तो अभी ज्वाइन भी नही किया, अभी से स्थानातरण!"

आगे पैदल जाना पड़ता है या बैलगाड़ी पर।"

'कब तक मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा?' प्रत्याशी ने पूछा।

'यदि तुम सामान बाँधने में वक्त न लगाओ तो।"

प्रत्याशी ने उसास-निःश्वास भर आँसू पोंछे और केबिन से बाहर निकल गया।

"कहाँ चल दिए?' चपरासी ने पूछा।

"प्रमोशन पर जा रहा हूँ।" प्रत्याशी ने कहा और छाती तान आगे बढ़ गया।

प्रत्याशी के चले जाने के पश्चात् साहब बड़ी देर तक शून्य में घूरते रहे। फिर सुन्दरी की ओर देखा और स्वगत बोले, 'तुम किसी भी एफिशेंट आदमी को हैड आफिस में टिकने नहीं देती हो। ऐसा तो अकेला काम करते-करते मैं मर जाऊँगा।'

सुन्दरी साहब की मुद्रा से समझ गई। वह भी स्वगत ही बोली, ,बाद में झींकना होता है तो पहले वरदान क्या देते हो?'

पता नहीं, यह कैसा आर्डर है जिसे निरस्त ही नहीं किया जा सकता।' साहब ने दूसरा स्वगत बड़ी उदासी से कहा।

प्रत्याशी भारी कदमों से चलता लौटकर घर आया।

आँगन में घुसते ही उसने माँ को देखा। माँ ने बरामदे में दरियाँ और चौकियाँ बिछा कर सत्यनारायण की कथा की तैयारी कर रखी थी। अभी न तो पंडित जी पधारे थे और न मुहल्ले की कोई स्त्रियाँ ही आई थीं। पर, शायद माँ की ओर से पूरी तैयारी थी। फूल, कपूर, अगरबत्ती, मिठाई, फल

माँ ने उसे देखा, "तू लौट भी आया। क्या नौकरी नहीं लगी?"

'नौकरी तो लग गई है।" वह बोला, "किन्तु दिल्ली से मेरा स्थानान्तरण दंडकारण्य में कर दिया गया है।"

नौकरी के लगते ही स्थानान्तरण?'

"हाँ माँ!"

'अब क्या होगा?"

मा के चेहरे का रग उड गया था। उसे लगा, या तो मा ही चक्रा कर गिर पडेगी, या फिर मा के हाथ से छूटकर थाली गिरेगी।

पर मा समझदार थी। गिरी तो वह अवश्य, पर कुछ इस प्रकार सभल कर चौकी पर गिरी—जिसे भाषा की सीमाओ म बैठना ही कहा जाएगा, उस क्रिया के लिए 'गिरना' शब्द का प्रयोग नही किया जा सकता।

बैठते ही मा का विलाप आरम्भ हो गया, "क्या मैंने इसीलिए तुझे जन्म दिया था ? क्या मैंने इसीलिए तुझे पाल पोस कर बडा किया था ? अरे, जिस दिन तेरा जन्म हुआ मैंने समझा था कि मैंने सब कुछ पा लिया। फिर मैं तिल तिल कर तुझे पालती रही कि तू बडा होगा। तेरी नौकरी लगेगी। तू कमाएगा। सोचा था, जो सुख मुझे तेरे बाप की कमाई म नही मिला, वह तेरी कमाई म मिलेगा। एक ही कगाल था तेरा बाप, और ऊपर म कजस भी। फिर तेरी खूसट दादी मेरे सिर पर सवार थी। मुझे कभी कोई सुख नही मिला। मैं तेरा मुख देख देख कर जीती रही। तुझे मैंने बडा किया। पढाया लिखाया। तेरा ब्याह किया। पर तेरी नौकरी ही नही लगी। तू चारपाई भी तोडता रहा और मुफ्त की रोटी भी। मैं अपने कलेजे का खून पीती रही और सब-कुछ देखती रही। क्या इसी दिन के लिए रे "

प्रत्याशी मा का विलाप सुनता रहा और स्वगत शैली मे अपना सिर पीटता रहा, 'हाय मा ! तूने मुझे कभी अपना बेटा न समझा। तू मुझे अपनी पूजी ही मानती रही, जिस पर तुझे ब्याज मिलने वाला था। तूने मुझे अपना फिक्स्ड डिपाजिट माना, तूने मुझे अपना प्राविडेंट फड माना, हो सकता है अपनी पेंशन या जीवन बीमा की पालिसी भी माना हो। पर तूने मुझे अपना बेटा कभी नही माना। इससे अच्छा था तू मुर्गिया पालती, कोई गाय भैस पालती बकरी या सूअर ही पाल लेती, जिनके बढने के साथ तेरी सपत्ति बढती '

मा का विलाप कुछ कम हुआ तो वह प्रकट बोला, "मा, नौकरी तो लग गई है। न सही दिल्ली मे दडकऊ मे ही सही। कमाई तो शुरू हो ही गई। अब रोती क्यो है ?'

"रोज़ नहीं तो लड्डू बाटूं ?" मा ने अपनी छाती पर दुहत्थड मार लिया, "जब तक निखट्टू था, तब तक मेरी छाती पर मूंग दलने के लिए तू मेरा था। अब तेरी नौकरी लगी तो तू दडक्कू चला जाएगा। साथ तेरी घरवाली जाएगी। तुम दोनों सारे पैसे उडाओगे। मैं यहां फिर भूखी की भूखी। ऐसी मैं तेरे बाप के राज मे ही क्या बुरी थी ? अरे, तुझे क्या इसी दिन के लिए पाला था "

प्रत्याशी मा का दर्द समझ गया। उसे लगा, मा कह रही है, 'हाय ! तू दडक्कू चला गया तो मैं तेरी पत्नी के सिर पर वैसे कैसे सवार होऊगी, जैसे तेरी दादी मेरे सिर पर सवार रही थी? तू अपने वेतन को अपनी पत्नी के हाथ म दे देगा तो तेरी पत्नी अपने बुढापे मे अपने बच्चो के सामने सिर पटक-पटक कर वैसे कैसे रोएगी, जैसे मैं रो रही हू '

प्रत्याशी ने मा को धैर्य बधाया, "चिंता क्यों करती हो मा ! मैं जाऊगा तो तुम्हें अकेली को थोडी यहा छोड जाऊगा। तुम मेरे साथ चलो।"

"हा ! मैं तेरे साथ चलू।' मा का स्वर और भी ऊचा हो गया, "मुझे वहा किसी गवई गाव म पटक तुम फिर अपना तबादला दिल्ली-बबई करवा लेना। मुझे बताए बिना पीछे से अपने बाप दादा की निशानी यह मकान भी बेच देना। तू चाहता है कि मैं वहा मरू, जहा कोई एक चुल्लू पानी देने वाला भी न हो। हाय ! क्या मैंने इस दिन के लिए तुझे पाला था रे ? "

प्रत्याशी अपनी मा की इस प्रकार की प्रतिभा से आज तक अपरिचित ही था। कैसे कैसे अर्थ निकालती है मा भी। कुछ खीझकर बोला, "तो तुम चाहती हो, मैं यह नौकरी छोड दू ?"

"हा रे, यही चाहती हू।" मा ने फिर माथे पर हाथ दे मारा, "छोड दे मिली मिलाई नौकरी। बेच दे मेरा बचा-खुचा गहना गट्टा। उडा दे मेरी रही-सही पूजी। मार दे हम सब को भूखा। हाय रे ! मैंने इसी दिन के लिए तुझे पाला था "

मा का स्वर शायद और ऊचा और नियमित हो जाता। पर तभी दरवाजा खटका और प्रत्याशी की पत्नी भीतर आई। स्कूल से पढ़ाकर

आई थी। वह छाती के सहारे कलाई पर टिकाए, कापियो का एक ढेर उठाए थी। धूप मे आने के कारण रग तमतमाया हुआ था, होठ सूख रहे थे।

"अरे, आप आ भी गए!" उसने पति को देखते ही कहा, "आज ज्वाइन नही किया क्या? चलो, अच्छा हुआ। मैंने शाम को अपनी सहेलियो को चाय पर बुलाया है। आप देर से आते तो मजा नही आता।"

"आज ही चाय पर बुला लिया।' प्रत्याशी बोला, "मुझे वेतन तो मिल लेने देती।"

"मैं क्या करती।" पत्नी ने उत्तर दिया, "आपकी नौकरी का समाचार सुनकर वे लोग मेरे पीछे पड गईं।"

पत्नी अपने कमरे की ओर बढ गई। अब स्पष्ट था कि आगे बात करनी है तो मेरे कमरे मे आओ।

मा के विलाप से भी बचना था और पत्नी से भी बात करनी थी—प्रत्याशी पत्नी के पीछे पीछे कमरे मे चला आया।

"सुनो! बात यह है कि "

"क्या बात है?" पत्नी ने कापिया मेज पर पटक कर उसकी ओर देखा।

"मेरा ट्रासफर हो गया है।"

"पहले ही दिन ट्रासफर?" पत्नी हैरान थी।

"यू समझ लो कि नियुक्ति ही वही हुई है।"

'कहा?"

'छत्तीसगढ का कोई गाव है, दडकऊ।"

'तो?"

"तो क्या?" प्रत्याशी हिम्मत बटोर कर बोला, "वहा जाना होगा। तुम भी तैयारी कर लो। मैं कल चल देना चाहता हू।"

"जाना तुम्हे है। तयारी मैं क्या कर लू।' पत्नी लापरवाही से बोली, "तुम अपना सामान-वामान भी तैयार नही कर सकते क्या?'

'तुम मेरे साथ नही चलोगी क्या?" प्रत्याशी ने आश्चर्य दिखाया।

"मैं।" पत्नी भी चकित होकर बोली, "तुम्हारा विचार है कि मैं अपनी सरकारी स्कूल की लगी-लगाई नौकरी छोड कर दडकऊ-फडक्कऊ म धूल मिट्टी फाकने जाऊगी।"

'हा। नौकरी की बात तो है।" प्रत्याशी गभीर हो गया, "पर, नौकरी वहा भी खोजी जा सकती है। शायद वहा भी कोई स्कूल हो।"

"होने को तो हो सकता है। पर दिल्ली के सरकारी स्कूल के अच्छे ग्रेड को छोड कर वहा जाने की क्या तुक? और फिर नौकरी तो अलग रही, मैं तो वैसे भी दिल्ली छोड कर कही नही जाऊगी।"

पत्नी की दढता देखकर प्रत्याशी डर गया, "तुम्हारा तात्पय है कि मैं अकेला जाऊ।"

"हा।'

"पति-पत्नी होकर हम अलग रह?"

"अलग रहने स कौन सा तलाक हो जाता है।" पत्नी बोली, "कभी छुट्टी लेकर तुम आ जाना। कभी छुट्टिया म मैं आ जाया करूगी।'

और मेरे खाने पीने का क्या प्रबध होगा?" प्रत्याशी काफी उदास था।

"देखो।" पत्नी तुनक कर खडी हो गई, "यदि पत्नी का कैरियर तुम्हारे लिए इतना ही महत्त्वपूण है कि तुम्हारी रोटी पकाने के लिए उसका त्याग कर दिया जाए तो मैं तुमसे रत्ती भर सहमत नही हू। यह पुरुषा का सामती चितन छोडो। मैं तुम्हारी पत्नी हू—दासी-बादी नही। स्वय नही पका सकते तो किसी ढाब मे खा लेना। वहा भी तुम्ह कोई न कोई शेरे पजाब होटल मिल ही जाएगा। यह भी नही करना चाहते तो अपनी मा को साथ ले जाओ। वे यहा कोई हीरे नही तौल रही हैं।"

'मा भी अपना घर छोडकर नही जाना चाहती।"

"जब वे नही छोडना चाहती, तो मैं कैसे छोड दू?"

"तो मैं अकेला जाऊ?'

"और रास्ता ही क्या है!"

"और मेरे हटते ही तुम सास-बहू यहा एक-दूसरी का सिर फोडन लगी तो?" प्रत्याशी ने उसे घूरा।

"सिर क्या फोड़ेंगी।" पत्नी बोली ' मैं माताजी की सेवा करूंगी।"

"वह तो मैं समझ ही रहा हू।" प्रत्याशी बोला, "माताजी भी तुम्हारी सेवा ही करेंगी।"

' कर लें।" पत्नी ने मुह बिचकाया, ' मैं न उनसे डरती हू न उनसे कमजोर हू।"

"ठीक है।" प्रत्याशी बोला, "अपने आप निणय कर लेना। मैं कल चला जाऊगा।" वह क्षण भर रुका, ' अच्छा चलू। जरा कुछ शापिंग-वापिंग कर आऊ "

"अरे, खाना तो खाते जाइए।" पत्नी ने रोकना चाहा।

"वही खा लूगा।" प्रत्याशी ने उत्तर दिया, "किसी ढाबे म या शेरे पजाब होटल मे।"

वह बाहरी दरवाजे की ओर बढ गया।



16 त्रासदिया सबधो की

कालेज वालो ने मुझे भेज दिया—'डा० श्रीमती आचार्या को भाषण के लिए आमन्त्रित कर आओ।'

मैं जाने से पहले पूरे हथियारो से लेस हो जाना चाहता था। अक्सर बिना कुछ अधिक जाने मैं किसी के घर चला जाता हू और वहा परेशानी मे फस जाता हू, जैसे फाइल पढे बिना ससद मे जाकर मत्री लोग परेशान हो जाते हैं। मैंने श्रीमती आचार्या का पता पूछ लिया। उनके पद के विषय म जान लिया। उनके पति के पद के सबध म भी जानकारी ले ली। इससे अधिक क्या जानना था ? उनकी नौकरानी का नाम जाने बिना भी काम चल जाता।

मैंने द्वार की घटी बजाई तो एक बडा सा कुत्ता मुझ पर झपटा। मैं अपनी भूल के प्रति सचेत हो गया। मैंने श्रीमती आचार्या के सबध मे सूचनाए एकत्रित करते हुए कुत्ते के विषय मे नही पूछा था। भविष्य के लिए तुरत निर्णय ले डाला कि किसी क पति के विषय मे पूछू न पूछू, कुत्ते के विषय म अवश्य पूछ लिया करूगा कितना ही परपरागत पति क्या न हो, पहली ही बार म काटेगा नही कुत्ता काट भी सकता है।

कुत्ता यदि भौंकता रहता तो कदाचित् मैं परवाह नही करता, पर वह मुझ पर झपटा था और काट भी सकता था। आत्मरक्षा के लिए मैं बाहर भागा और मैंने एक पत्थर उठा लिया।

श्रीमती आचार्या ने बालकनी मे झाककर देखा और कहा, "आ जाइए।'

'आपका कुत्ता खुला है।" मैंने 'कमे आऊ मैं जमना म तीर' वाली शैली म कहा।

उन्होंने भीतर जाकर नौकर को भेजा, उसने कुत्ता सभाला और तब

मैं ऊपर जा सका।

पर ऊपर जाते ही मुझे पता चल गया कि वे मुझसे नाराज भी हो चुकी है। अपनी नाराजगी जताती हुई वे बोली, "देखिए, मेरे दो बेटे हैं—एक पवन और दूसरा गगन। जिसे आप कुत्ता कह रहे हैं, मैंने इसे कभी कुत्ता नही समझा। *यह मेरा बेटा है और मुझे उतना ही प्यारा है,* जितना स्वय पवन। मैं इन दोनो भाइयो मे एकदम भेद नही मानती। आपका इसे कुत्ता कहना मुझे एकदम अच्छा नही लगा। और फिर आपने इस पर पत्थर उठाया है। कोई आपके बेटे पर पत्थर उठाए, तो आपको कैसा लगेगा ?"

मैं क्या कहता। मैं अभी उतना ब्रह्मज्ञानी नही हुआ था कि मनुष्य तथा पशु म भेद ही न मानता। फिर मैं उन्हे कालेज मे भाषण के लिए आमन्त्रित करने आया था, कुछ कह देता और वे भी अपने गगन के समान भौंकने लगती तो ?

मैं सोचता रहा जो जितना बडा भ्रम पाल सके, वह उतना ही बडा आदमी हो जाता है। मैं सच कह देता हू तो तुच्छ हो जाता हू। मैं भी भेद-भाव भुला दू अच्छाई-बुराई मे भेद करना छोड दू रिश्वत के पैसे और वेतन मे अन्तर न समझू अपनी पराई स्त्री को एक आख से देखने लगू—कितना सुखी हो जाऊगा मैं भी, कितना बडा दार्शनिक।

पर मेरी आखें जो सच देखती हैं, मैं उसे कह बिना रह नही सकता, *और लोग नाराज हुए बिना नही मानते।*

किरण बाबू नी पन्द्रह वर्ष पूर्व एक लडकी ब्याह कर लाए थे, उसे पत्नी बनाकर रखा था, और अब तक उसे एक भद्र महिला समझने की मजबूरी का निवाह करते आए थे। वह महिला उनके परिवार के विभिन्न लोगो पर गुर्रा चुकी थी। किसी पर झपट चुकी थी, किसी को पजा मार चुकी थी, और किसी को अपने दातो से भभोड चुकी थी। सब लोग सच्चाई जान गए थे कि वह किरण बाबू की पत्नी होने के साथ-साथ एक बुलडॉग भी है। पर सच्चाई किरण बाबू तक पहुच नही पाती थी, क्योकि उनके नाराज होने का भय था। और किरण बाबू थे कि उस बुलडॉग को अपनी पत्नी ही मानते जा रहे थे।

अपनी आदत के अनुसार मैंने किरण बाबू को बता दिया कि वे एक बुलडॉग को अपनी पत्नी माने बैठे हैं, और मैं इस बात के लिए उनसे सख्त नाराज हूं कि मुझ जैसे मित्र को भी बचाने के लिए उन्होंने अपने बुलडॉग के गले में जंजीर तो नहीं ही डाली उलटे एक बुलडाग का परिचय मुझसे अपनी पत्नी के रूप में करवा कर मुझे जोखिम में डाल दिया।

मेरी नाराजगी की बात सुनकर भी उन्होंने अपने बुलडॉग को बाधने का निर्णय नहीं लिया। मुझे सूचना भिजवा दी कि वे भी मुझसे नाराज हैं। इस समय मुझसे नाराज होना उनके हित में था। वे मुझसे नाराज हो गए थे, इसलिए मैं उनकी पत्नी के प्रति अपनी नाराजगी नहीं जता सकता था। यह अमरीकी रवैया बड़े काम की चीज है। उनकी सूचना का अर्थ यही था कि मैं उनकी पत्नी के दुर्व्यवहार के प्रति अपनी नाराजगी न दिखाऊं, नहीं तो वे अपनी नाराजगी को वीटो कर देंगे।

किरण बाबू की नाराजगी का मुझपर विचार-बदलू प्रभाव पड़ा। मुझे लगा, मैं व्यर्थ नाराज हूं। यदि मेरी नाराजगी के कारण, किरण बाबू जैसा मित्र मुझसे छिन रहा है, तो समझदारी इसी में है कि मैं अपनी नाराजगी ही छोड़ दूं। दूसरे की मित्रता अपनी नाराजगी से सदा बड़ी चीज होती है।

मैंने अपना निर्णय किरण बाबू तक पहुंचा दिया कि मैंने अपनी नाराजगी छोड़ दी है वे भी अपनी नाराजगी छोड़ दें। पर शायद उनकी नाराजगी में गोंद का तत्त्व कुछ अधिक था। वह उनके चेहरे पर चिपकी ही रही। बोले, "पहले तुम मेरे घर आओ।"

'घर तो मैं आ जाऊं," मैंने कहा "पर वहां आपकी पत्नी फिर मुझ पर झपटी, तो मुझे कौन बचाएगा? क्या आप यह गारंटी देंगे कि वह मेरे साथ सम्मानजनक व्यवहार करेंगी? या क्या आप मुझे इस बात की अनुमति देंगे कि यदि वह मेरे साथ अपमानजनक व्यवहार करें तो मैं भी लाठी उठा लूं, जैसा कि एक बुलडॉग के साथ होना चाहिए।"

उन्हें मेरा एक भी प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। बोले, "तुम मेरे मित्र हो न?"

"हूं।

"तो तुम मेरी खातिर इतना भी नही कर सकते कि मेरी पत्नी की बातें चुपचाप सुन लो ?"

"किरण बाबू ! कमाल है।" मैंने कहा, "बुलडॉग मुझे काटे और मैं उसकी टाग भी न तोड़ ?"

"तुम्हारी ही बात सही।" बोले, "पर यदि तुम उसकी टाग तोड दो, तो मेरा बुलडॉग लगडा हो जाएगा। नुक्सान किसका हुआ ? मेरा ही तो। तुम कैसे मित्र हो, मेरा नुकसान करना चाहते हो !"

"पर आप कैसे मित्र हैं। आप उन्हे रोक नही सकते ?"

"नही। वह मेरी पत्नी है।"

मैं समझ गया बुलडॉग, मित्र की पत्नी बनकर भी बुलडॉग ही है। वह काटेगा ही। सधि वार्ता मे डैडलॉक आ गया।

किरण बाबू जैसे ही एक और मित्र हैं—कमल बाबू। उनकी बहिन हमारे पडोस म बस गई तो कभी कभार मिलने भी आने लगी। तीन चार मुलाकातो मे ही वह मुझे बता गई कि मेरे घर मे पकने वाला खाना, मस के खाने के मूसे जैसा है। मेरा ड्राइगरूम एकदम गवारू है (अत शरीफ लोगा के बैठने लायक नही है) क्योकि न तो उसम किसी फिल्म तारिका के चित्रवाला कैलेंडर है, और न फ़िल्म-तारिकाओ जैसी शक्ला वाले देवी देवताओ के चित्रा वाला। इत्यादि इत्यादि।

मैं ताव खा गया। अगली बार जब मैं कमल बाबू की बहिन के घर मिलने के लिए गया तो उसके भोजन तथा ड्राइगरूम की प्रशसा कुछ उसी शैली मे कर आया, जिसमे वह कर गई थी।

बहिन पर क्या प्रभाव पडा, पता नही, पर कमल बाबू नाराज हो गए। बडे कठोर और स्पष्ट शब्दो मे उन्होने मुझे बताया कि मेरी इस बद-तमीजी को वे कभी क्षमा नही करेंगे।

"तुम्हें पता है, तुमने उसका कितना दिल दुखाया है ?" उन्हाने मुझे डाट कर पूछा।

"तुम्ह मालूम है, तुम्हारी बहिन ने मेरा कितना दिल दुखाया है ?" मैंने भी उसी टोन मे पूछा।

"उसे छोडो।" वे बोले, "वह तो मूर्ख है। उसे अक्ल नही है। उसे यह पता भी नही लगा होगा कि उसने तुम्हारा दिल दुखाया है। कोई भैस तुम्हारी फुलवारी मे घुसकर तुम्हारे सुदर गुलाब चर जाए, तो क्या उसे पता चलेगा कि उसने क्या किया है ?"

'ठीक कहते हो।" मैंने कहा, "उसे पता चले न चले, पर इतना शरीफ तो मैं भी नही कि कोई भैस आकर मेरी फुलवारी के गुलाब चर जाए तो मैं उसका सिर न तोड दू।"

"चाहे वह भैस मेरी ही हो ?"

"हा, चाहे वह भैस तुम्हारी ही हो।" मुझे क्रोध आ गया।

"अच्छे मित्र हो तुम !"

"तुम अच्छे मित्र हो। अपनी भैस को बाधकर नही रख सकते कि वह मेरी फुलवारी न उजाडे।"

"भैस है—बध कर कैसे रहेगी ?"

"मैं भी आदमी हू, मारे बिना कैसे रहूगा।"

"फिर मेरी-तुम्हारी मित्रता नही निभ सकती।"

ऐसे सब लोग मुझसे नाराज हैं, जो चाहते हैं कि उनकी खातिर मैं उनके कुत्ते से अपनी टाग कटवा लू उनकी भैस से अपनी फुलवारी उजडवा लू, उनके गधे से दुलत्ती खाकर अतडिया तुडवा लू। पर मैं आदमी हू कुत्ते को कुत्ता गधे को गधा, भैस को भैस मानना चाहता हू, और उनके साथ उनके उपयुक्त व्यवहार करना चाहता हू। परिणाम यह है कि कोई समझौता हो नही पाता और लोग मुझसे नाराज हो जाते हैं।

17 त्रासदी एक कामना की

पिछले महीने कालेज की 'विज्ञान परिषद' के उद्घाटन के लिए 'वे' संसद सदस्य को पकड़ लाए थे। संसद सदस्य साहब ने विज्ञान परिषद्' का उदघाटन तो किया ही साथ ही विज्ञान के मूल स्वरूप का भी उद्घाटन कर डाला। उन्होंने बताया "विज्ञान वह है, जिसने एक चीज बनाई है, उसका नाम बिजली है। बिजली से बहुत बड़े-बड़े काम होते हैं ।"

लड़कों को जब लगा कि यह 'विज्ञान परिषद' का उदघाटन न होकर, बिजली चालित उपकरणों को बनाने वाली किसी फर्म का विज्ञापन है, तो उन्होंने शोर मचाना आरंभ कर दिया तो वे उठ खड़े हुए। बोले, "एम्पी साहब को बोलने दीजिए। वे आपको बड़ी अच्छी-अच्छी बातें बताएंगे।" (अर्थात् बुरी बुरी बातें स्वयं तक ही सीमित रखेंगे)।

'एम्पी' चले गए और 'वे' उदास हो गए।

"आप क्यों उदास हैं ?" मैंने पूछा, "नहीं सुना गया तो एम० पी० का भाषण नहीं सुना गया। संसद में भी उनकी कोई नहीं सुनता। आपकी बात तो फिर भी लड़के क्लास मे सुन लेंगे।'

' मेरा तो इम्प्रेशन खराब हो गया न ! "

'वे' उदास ही रहे। कई दिनों तक उदासी ही खाते पीते ओढ़ते बिछाते रहे। मुझे किसी ने बताया कि उनकी उदासी का कारण युवा-लेखन के समान जेनुइन है। लड़कों के हुल्लड़ ने, निकट भविष्य में उनके घर पर लगने वाले टेलिफोन के तार काट दिए थे। भाषण के लिए कालेज की ओर आते समय 'एम्पी' उनके घर टेलिफोन लगवाने के लिए पत्र टाइपिस्ट को देकर आए थे पर हुल्लड़ के पश्चात उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था।

पर 'वे उदास रहकर भी जानते थे कि कालेज की एकमात्र

'विज्ञान परिषद' ही नही थी। उन्होने तुलसी जयती के अवसर पर 'एम्पी को बुला लाने का अपना स्थायी प्रस्ताव दुहरा दिया।

"तुलसी जयती जैसे साहित्यिक उत्सव म उस अनपढ एम० पी० का क्या काम ?" मैंने पूछ लिया।

काम 'एम्पी' का नही, काम तो मेरा है।" वे बोले।

उनकी 'चातक रट' को सुनकर, उनके काम म मैं कैसे बाधा दे सकता था। मैं उनका सम्मानित सहकर्मी होने के कारण बाध्य था। लडके शोर मचाकर उनके तार काट सकते थे, पर मैं लडका नही था। मैं देख रहा था, वे कालेज का पैसा अपने घर टेलिफोन लगवाने मे खच कर रहे थे, पर शरीफ आदमी की हैसियत से इन टुच्ची और छिछली बातो की ओर स मेरी आखें बद थी।

तुलसी जयती' पर 'एम्पी' आए। उ ह फूलमालाए थोक के भाव पहनाई गई। देश मे प्रचलित, भगवान की प्रसिद्ध आरतिया तनिक सशोधन के साथ एम्पी के लिए गायी गइ, और उनसे तुलसीदास के विषय मे दो शब्द कहने का निवेदन किया गया। जो कुछ कहने को था, वह तो एम्पी' के विषय म कह दिया गया था, निश्चित रूप स तुलसी के लिए 'दो शब्द' ही बचे थे।

एम्पी उठे। बोले, वे जो टेलिफोन की एप्लिकेशन लेकर आए थे, उन्होने मुझे बताया था कि आप लोग मेरा अभिनन्दन करना चाहत हैं, क्योकि आज मेरा हैप्पी बथडे है। पर लगता है, आप लोग तुलसीदास की जयती मना रहे हैं। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि हमारे देश म साहित्यिक पात्रो को भी इतना मान दिया जाता है। निराला जी मेरे घनिष्ठ मित्र रहे हैं। मुझे किसी ने बताया था कि निराला जी ने तुलसीदास नामक एक पोथी लिखी है, जिसके हीरो तुलसीदास हैं। तो आप उनकी जयती ।"

लडको ने फिर शोर मचा दिया। लडके तो लडके ही हैं, चाहे विज्ञान परिषद् के नाम पर एकत्र हुए हो या 'तुलसी जयती' के नाम पर। शोर म 'एम्पी बोल नही सके और वे' टेलिफोन के जुडते तारा के पुन कट जाने पर भयकर रूप स उदास हो गए।

फोटोग्राफिक क्लब की वार्षिक प्रदर्शनी पर 'वे' फिर एक 'एम्पी' को पकड लाए।

मैंने पूछा, "इनका भाषण करवाओगे ?"

'वे' बोले, "नही। इनके साथ अपनी फोटो खिचवाऊगा।"

"इनको फोटोग्राफी की कोई पहचान है ?"

'वे' बोले, "किसको नही होती। किसी फोटोग्राफ मे अपने आपको कौन नही पहचानता। हमारा मुनुआ भी पहचान लेता है और अभी कुल मिलाकर छ बरस का है।" वे कुछ भेदभरी आवाज मे बोले, "इन 'एम्पी' की एक विशेषता और भी है। ये दूसरे 'एम्पियो' से भिन्न हैं। ये चित्र मे अपने साथ खडे व्यक्ति को भी पहचान लेते है। भाषण वाले प्रोग्राम म बडा घपला रहता है। लडके साले हर बार मेरे तार काट देते हैं। पता नही, क्या मरे साथ वैर पाल रहे हैं वैसे एक बात है कोहली साहब। मैंने इस विषय मे थोडी सी रिसच भी की है। आपने कभी ध्यान दिया है कि हर देश मे, हर काल म, जब कभी गडबड हुई लडको ने रेल की पटरिया उखाडी, टेलिफोन के तार काटे। पता नही इन लोगो को टेलिफोन से इतना वैर क्या है ? मैं दो निष्कर्षों पर पहुचा हू एक यह कि टेलिफोन बडी मेच्योर चीज है, क्योंकि इम्मेच्योर लडके उसे बर्दाश्त नही कर सकते, और दूसरी बात यह कि टेलिफोन बडी अहिंसक और शातिप्रिय चीज है, क्योंकि हिंसा और गडबड के होते ही यह बेचारा कट जाता है।"

प्रदर्शनी शातिपूर्वक समाप्त हो गई। 'एम्पी' जाते जाते एक फोटोग्राफ को एक विशेष पुरस्कार दे गए। उस फोटोग्राफ की विशेषता यह थी कि उसमे जो लडका था, उसने गाधी टोपी पहन रखी थी। 'एम्पी' को युवा-पीढी के सिर पर यह टोपी देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई थी।

'वे' फिर सफल हो गए। उन्होने प्रिंसिपल को पटा लिया और कालेज के वार्षिक खेलकूद पर अध्यक्षता करने के लिए एक 'एम्पी' को पकड लाए।

"इनका खेलो से क्या सबध है ?" मैंने पूछा।

"ये फुटबाल जैसे दीखते हैं।" 'वे' बोले, "आप हर चीज का सबध

क्यो पूछते रहते है ? सबध जो है वह मैं जानता हू।"

सबध तो खैर मैं भी जानता था, पर पूछने पर कोई टैक्स तो है नही। मास्टर लोग क्लास मे लडको से पूछते रहते हैं। ससद सदस्य मत्रियो से पूछते रहते हैं। पूछने मे क्या हज है ?

'उनकी जिह्वा ने चाहे 'एम्पी' को फुटबाल जैसा बताया था, पर मैं अच्छी तरह जानता हू कि उनके अतश्चक्षुओ को 'एम्पी' टेलिफोन एक्सचेंज ही दिख रहे होग। पर इस टेलिफोन एक्सचेंज से भी उनके घर तक तार जुडे नही, पता नही, यह 'एम्पी' किस कारण नाराज हो गए।

यहा से 'उनके जीवन मे वैसा ही एक अदभुत मोड आरभ हुआ जैसा पुराण पुरुषो के जीवन मे कनपटी पर श्वेत बाल आ जाने पर तथा फिल्मी नायको के जीवन मे इटरवल के बाद आरभ होता है। उन्होने कालेज में 'एम्पियो' को लाना छोड दिया। उनका अधिकाश ध्यान अपनी वेश-भूषा पर केंद्रित होने लगा। पहले उन्होंने टाई का त्याग किया। फिर कमीज-पतलून की जगह चूडीदार पाजामा और कुरता पहनना आरभ किया। वास्कट पहनने लगे। हाथ मे चमडे का बैग भी लटकाने लगे। खासे 'आफीशियल 'आदमी लगने लगे थे।

मैं पूछ बैठा, "इधर बहुत दिनो से कालेज मे किसी 'एम्पी' को नही लाए ?"

'अब आवश्यकता नही रही।'

"क्यो ?"

"मैं 'एम्पी' फ्लैटस मे शिफ्ट कर गया हूँ न। अब वही उन लोगो स भेंट हो जाती है।"

मैं चकरा गया। उन्होने तो टेलिफोन के स्थान पर एम० पी० फ्लैट पर ही हाथ मार दिया। उस फ्लट म टेलिफोन तो होगा ही होगा। जिज्ञासा मुझे हुई तो कुछ और लोगो को भी हुई ही होगी।

यार लोगो ने पता लगाया, वे किसी एम० पी० के आऊट हाउस मे शिफ्ट कर गए थे। उस फ्लैट के साथ लगी जमीन में आलू पालक उगाते थे और उन्ही सब्जियो की डालियां पहुचा कर 'एम्पी' को प्रसन्न कर रह

थे। पता नहीं, मिया यह समझ रहे थे कि नही, कि उन्हीं की जूती उनके सिर पर बज रही है। साथ ही साथ 'वे' 'एम्पी' के बच्चो को ट्यूशन पढा कर 'एम्पी' की अगली पीढी को एम० पी० बनने से वंचित कर रहे थे।

इन दिना 'उन्हें' अपने स्वास्थ्य का भी बहुत ध्यान रहने लगा था। आजकल रोज सवेरे सैर करने जाते थे और सडक पर टहलते हुए मिलने वाले प्रत्येक 'एम्पी' नुमा व्यक्ति को तो सलाम करते ही थे, उनके नौकरो, बावर्चियो तथा मालियो तक को भी नही बख्शते थे।

"क्या यह आदमी इतना कुछ एक टेलिफोन के लिए कर रहा है?" मैंने 'उनके' एक जानकार से पूछा।

"नही।" जानकार ने बताया, "टेलीफोन का विचार इन्होने छोड दिया है। आउट हाउस मे टेलीफोन नही लग सकता।"

"तो यह सब किसलिए है?"

"ऊची चाल है।" जानकार बोला," 'वे' 'एम्पी' कोटा मे से स्कूटर लेने के चक्कर मे हैं।'

18-तोसदी कहनेवाले की

बहुत सोच विचार और माथा पच्ची के बाद विज्ञापन का बोर्ड तयार हो पाया था। फिर भी मिल के प्रचार विभाग का चित्रकार जो चाहता था, चित्रित नही कर पाया था। वह चाहता था कि चित्र मे अपनी प्रेमिका को, अपनी मिल के बने हुए कपडे पहने हुए दिखाए। मिल का विज्ञापन होगा ही, साथ ही अपनी प्रेमिका का सुदर सा चित्र बनाने और उसे दिल्ली के सबसे बडे चौराहे पर प्रतिष्ठित करने की अपनी इच्छा भी पूरी कर पाएगा। किंतु, उसके मैनेजर ने उस अपने मन की नही करने दी थी। मैनेजर का विचार था कि दिल्ली की सडको पर इतनी सुदरियां खुलेआम घूमती हैं कि सुदरी को एक विज्ञापन मे देखने के लिए कोई देहाती भी एक क्षण को नही रुकेगा। मनेजर चाहता था कि कोई बहुत ही आकर्षक चित्र बने। ऐसा कि चलता आदमी तो रुक ही जाए, लोग अपने मित्रो को अपनी कारो मे भर भरकर लाए और पोस्टर दिखाए। प्रचार-अधिकारी का विचार था कि ऐसा तो तभी हो सकता है जब उस लडकी के साथ-साथ एक लडका भी बनाया जाए। उसने भी उन्ही की मिल के बने कपडे पहने हुए हो। और लडकी लगभग लडके की गोद म बैठी हुई हो। चित्रकार को उनके विचार सुनकर बहुत बुरा लगा था। उसने अपने मन म तभी तय कर लिया था कि अब वह उस लडकी का चेहरा अपनी प्रेमिका के समान न बनाकर, मनेजर की पत्नी के समान बनाएगा।

मैनेजर और प्रचार अधिकारी की बातचीत और आगे बढ़ी थी और वे लोग दो निष्कर्षों पर सहमत हो गए थे। पहला निष्कर्ष यह था कि उन लोगो ने सूटो का कपडा बनाने वाली मिल चलाकर, विज्ञापन की दृष्टि से बहुत बडी भूल की है। उन्हे तो भीतरी कपडे बनाने की मिल चलानी चाहिए थी और दूसरा नगर निगम को, अश्लील विज्ञापनो की रोकथाम

की नीति के विषय में था। उनका हार्दिक मत था कि नगर निगम नंगे विज्ञापनों का निषेध कर विज्ञापनदाताओं की धार्मिक स्वतन्त्रता पर रोक लगा रहा है। विज्ञापनकर्ता आलिंगन, चुंबन या उसके आगे की प्रक्रिया न दिखाए तो फिर विज्ञापन का ही क्या अर्थ?

अंत में विज्ञापन का एक नमूना तैयार हुआ। एक लड़का और लड़की ही बनाए गए। दोनों ने उसी मिल के बने हुए कपड़े के सूट पहन रखे थे। वे दोनों अत्यन्त निकट खड़े थे। दोनों ने मिलकर अपने चारों हाथों में एक साफ्टी आइसक्रीम पकड़ रखी थी और दोनों के होंठ आइसक्रीम को छू रहे थे। यह आइसक्रीम के माध्यम से लिया गया चुंबन था।

मैनेजर, प्रचार अधिकारी और चित्रकार—तीनों ही बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने नगर निगम तथा अन्य विभागों के अधिकारियों की समस्त सावधानियों को अंगूठा दिखा दिया था और अब वे इस विज्ञापन को चौराहे पर प्रतिष्ठित करने जा रहे थे।

विज्ञापन लगा, तो सचमुच आते जाते लोगों की दृष्टियां उसकी ओर उठती रहीं। मैनेजर अपनी कार में, प्रचार अधिकारी और चित्रकार के साथ बैठा मुग्ध भाव से विज्ञापन और उसके दर्शकों को देखता रहा और अपनी सफलता पर प्रसन्न होता रहा।

थोड़ी देर में उन तीनों की दृष्टि विज्ञापन के दो विशिष्ट दर्शकों पर जम गई। वे दो थे एक वयस्क था और एक बच्चा। कदाचित पिता पुत्र ही रहे हों। वे बड़ी देर से विज्ञापन को देख रहे थे और आपस में बातचीत कर रहे थे। लगता था, जैसे वे किसी बहस में पड़ गए हैं।

मैनेजर और उसके साथियों को उत्सुकता हुई। वे लोग कार से उतर आए और उन दोनों दर्शकों से इतनी दूर पर खड़े हो गए कि उनकी बातें तो सुन सकें किंतु उनकी दृष्टि में न पड़ें।

उन दोनों के बीच एक विकट विवाद चल रहा था। स्वर में कुछ कुछ आवेश भी था और वे दोनों ही अपने तर्कों से एक दूसरे को सहमत करने का प्रयत्न कर रहे थे।

"पापा! मेरी बात मानो।" बच्चा कह रहा था, "यह साफ्टी आइसक्रीम का ही विज्ञापन है। नहीं तो दोनों एक ही आइसक्रीम क्या

खाते ?"

"नही बेटे !" बाप ने अपने आवेश को सायास दबाते हुए कहा, "यह कपडे की मिल का विज्ञापन है। देखो ! नीचे अंग्रेजी मे लिखा हुआ है कि सभी स्मार्ट लोग इसी मिल के बने कपडे पहनते हैं।"

"तो फिर दोनो ने एक ही कमीज-पतलून क्यो नही पहनी ?" बच्चे ने जिद की।

"कपडे तो सब अलग-अलग पहनते हैं।" बाप ने बताया।

"आइसक्रीम भी तो सब अलग अलग खाते हैं।" बच्चे ने कहा।

"तो फिर यह दोनो का ही विज्ञापन होगा।" पिता ने ऊबकर कहा।

बच्चा एक क्षण तो भौचक सा खडा पिता के चेहरे को देखता रहा, फिर सहसा प्रसन्न होकर बोला, "इस बार आपको ठीक बात सूझी है। यह विज्ञापन दोनो का ही है।"

"कपडे और आइसक्रीम दोनो का विज्ञापन एक साथ करने का क्या अर्थ ?" बाप ने अपनी खीझ प्रकट की।

"क्यो, अर्थ तो इतना साफ है।" बच्चे ने पिता को समझाया, "क्या आप इतना भी नही समझ सकते कि यह विज्ञापन कह रहा है कि इस मिल का कपडा इतना महगा है कि इसे खरीदने के बाद इस लडके और लडकी के पास इतने भी पैसे नही बचे कि वो लोग दो आइसक्रीम खरीद सकते। बेचारो को एक से ही काम चलाना पड रहा है।"

मैनेजर और उसके साथियो ने आगे की बातचीत नही सुनी। वे समझ गए कि उनके विज्ञापन का वक्रोक्ति अलकार हो गया है।

वक्रोक्ति अलकार काव्यशास्त्रियो के अनुसार वहा होता है जहा कहने वाला कुछ और कहे और सुनने वाला कुछ और समझे। यह अपने देश का सबसे अधिक लोकप्रिय अलकार है।

रामलुभाया ने नगर-निगम से साइकिल, स्कूटर और कार-पार्किंग का ठेका लिया। जहा पार्किंग बनाई गई थी, उसके सामने पटरी थी। लोग अधिकाशत पटरी पर ही साइकिल और स्कूटर खडे कर देते थे। रामलुभाया को विशेष आय नही हो रही थी। उसने नगर निगम से पूछा,

कहा था कि उन्हें रोटी उपलब्ध नहीं होती तो फांस की रानी ने समझा था कि उन्हें केक उपलब्ध हो रहे हैं। अंग्रेजों के भारत आने पर जब कुछ सुविधाकांक्षियों ने उनके सामने नाक रगड़ी थी तो अंग्रेजों ने उसे भारत की जनता का श्रद्धा प्रदर्शन समझ लिया था।

इतना लिखने के पश्चात् मैं डर गया हूं। कहीं ऐसा तो नहीं कि काव्यशास्त्रियों ने कुछ और ही कहा हो और मैं अपनी सुविधा के कारण उसका कुछ और ही अर्थ समझ रहा होऊं।

19 त्रासदी एक धोबन की

मैंने दरवाजा खोला तो सामने एक इतनी मोटी स्त्री खडी थी, जितनी मोटी सिवाय धोबन के और कोई नही हो सकती थी। धोबी कहा करता था, "साब, ट्रक से टकराकर कोई बच जाए, तो बच जाए, हमारी धोबन से टकराकर तो उसके चीथडे ही उड जाएगे।"

पर वह धोबन नही भी हो सकती थी। यह ठीक है कि वह इतनी मोटी थी, और यह धोबी के आने का समय भी था। उसमे कुछ ऐसा था भी कि वह मुझे धोबन ही लग रही थी। पर शायद वह धोबन थी नही।

उसने बडी शिष्टता से पहला प्रश्न पूछा, "आपने शायद मुझे पहचाना नही।"

जी म आया, कह दू—आपको पहचाना हो या ना पहचाना हो, आपकी आत्मा को पहचान गया हू वह एक धोबन की आत्मा है।' पर ऐसी बातें मैं कह नही सकता था। सभव है वह किसी फर्म की ओर से नमूने की चीजें मुफ्त देने आई हो और मेरी इस बात से नाराज होकर वह चीजें मुझे दिए बिना ही लौट जाए। लोग चाहे मुझे कुछ भी कहें, पर मैं आज भी स्वय को एक शिष्ट व्यक्ति मानता हू। बचने का एक ही तरीका था मैंने वही अपनाया। मैं दार्शनिक हो गया, 'आज के युग में कौन किसी को पहचानता है जी।"

जब मैं किसी को पहचान नही पाता तो अक्सर दार्शनिक हो जाता हू। इसकी प्रेरणा मुझे एक शराबी पडोसी से मिली थी। एक रोज वह सडक के बीच नशे मे लडखडा रहा था। मैं उसे सहारा देकर घर तक लाया था। मैंने भी उससे यही प्रश्न किया था। उसने कहा था, "आपको कौन नही पहचानता। आप एक मनुष्य हैं।'

तभी से मैं ऐसे अवसरो पर दार्शनिक हो जाता हू। लोगो ने दार्शनिक बनकर बडे बडे स्वार्थ साधे है, मैं क्या अपनी एक छोटी-सी दुर्बलता नही छिपा सकता।

पर मेरा मन अब भी चीख रहा था—'धोबन ! धोबन !!'

उसने मुझे बताया, "आप मुझसे प्रेम करते थे। मैं आपकी भूतपूर्व प्रेमिका हू।'

मैं उसे पहचान तो गया, पर थोडी-सी कठिनाई हुई। काफी हिसाब किताब लगाना पडा। बात यह है कि मैं सदा ही किसी-न किसी से प्रेम करता रहा हू। मैट्रिक तक के प्रेम मैं अब उसी तरह भुला चुका हू जिस प्रकार तब तक लिखी गई अपनी कहानिया रद्दी समझ कर नष्ट कर चुका हू (हायर सैकेण्डरी का फैशन मेरे बाद चला था)। इटर मे दो वर्षों मे मैंने चार प्रेम किए थे—एक के बाद एक। बी० ए० मे मैं साइमलटेनियसली पाच सात प्रेम इकट्ठे ही करता रहा था। एम० ए० मे मैं हर पीरियड मे अलग-अलग लडकी से प्रेम करता रहा हू। पी-एच० डी० मे यदि उनके पति ने वार्निंग न दी होती तो मैं अपनी लेडी सुपरवाइजर से ही प्रेम कर बैठा था। असल मे यह सब कुछ धोखे मे ही होता चला गया था। लडकिया लच पर मेरे खाने के लिए चीजें ले आती थी, कभी-कभी मुझे अपने घर बुला लेती थी, तो वे मुझे अच्छी लगने लगती थी। बाद मे वे यह कह कर मुझे बदनाम करने लगती थी कि मैं उनसे प्रेम करता हू।

वैसे मुझे आज तक यह समझ ही नही आया कि प्रेम करने मे बदनामी कैसी है। एम० ए० मे एक लडकी एक दिन बहुत रोई। मैंने कारण पूछा तो बोली, "लडकिया कहती हैं 'क' उस पर बहुत मरता है।" मेरी समझ मे तब भी नही आया था कि मरता है तो 'क' मरता है रोएगे उसके घर वाले। आखिर उस लडकी को रोने की क्या आवश्यकता थी !

मेरे एक मित्र हैं, उन्हें मुहल्ले की एक लडकी ने पत्र लिख दिया कि वह उनसे प्रेम करती है। वे बहुत तडपे। पत्र लेकर मुहल्ले के बुजुर्गों के पास फटफटाते रहे कि लोग उस लडकी को मना करें कि वह ऐसे पत्र न लिखे। नही तो व बदनाम हो जाएगे।

मैंने पूछा, "भले आदमी। इसमे चिल्ल-पो मचाने की क्या बात है ?

उसने यह तो नहीं लिखा कि वह तुमसे घृणा करती है। प्यार ही तो करती है। तुम्हारा क्या लेती है। किए जाने दो प्यार। साला मुफ्त का काम है, एक पैसा तक खर्च नहीं होता।"

तब वे नहीं समझे थे, पर अब समझते हैं। अब बड़ी शान से अपनी पत्नी को बताते है कि लड़कियां उन्हें प्रेम पत्र लिखती थी। यदि अपने इस बड़प्पन को वे पहले ही समझ जाते तो मुहल्ले के बुजुर्गों को कष्ट देने की उन्हें आवश्यकता ही न पड़ती।

मैं आरम्भ से इस विषय मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर चला हूं। मुझे जब भी किसी लड़की ने कहा कि वह मुझसे प्रेम करती है, मैं बहुत खुश हुआ। मैंने उसे तुरन्त बता दिया, "तुम्हें पता है, कृष्णा भी मुझसे प्रेम करती है, निर्मला भी ।' परिणाम यह हुआ कि उन तीनों ने मुझसे प्रेम करना छोड़ दिया।

वैसे, ऐसे अवसर भी कम ही आए। मेरा अपना व्यवहार लड़कियों से इतना अच्छा था कि वहुधा वे यह कहकर मुझे बदनाम करती रहती थी कि मैं उनसे प्रेम करता हू। वैसे वे मेरे प्रेम से घबराया करती थी, क्योंकि वे प्रेम को छिपाने की वस्तु मानती थीं, और मैं दिखावे की। बस इसी सैद्धांतिक मतभेद से मेरे प्रेम अक्सर अधूरे ही रह गए। पर पता नहीं, वे अब भी मेरे जैसे मित्र के समान अपने पतियों के साथ अपने प्रेम की बात बता कर, गर्व कर पाई हैं या नहीं।

तो मैंने हिसाब लगाया कि वे जो बैठी थी, उनसे मैं एम० ए० मे बुधवार के दिन तीसरे पीरियड मे प्रेम करता था। बात यह थी कि वह वैकल्पिक पर्चे का पीरियड था। और उस पीरियड मे क्लास की सारी सुंदर लड़कियां अपने अपने आत्मानन्द के लिए दूसरे कमरो मे चली जाती थी। हमारी क्लास में एक ही लड़की थी। प्रेम करना ही पड़ता था। माल उपलब्ध होने की है। जो चीज बाजार में मिलती होगी, उसी का तो प्रयोग होगा।

पर किसी समय उसके साथ मेरा प्रेम गंभीर हो उठा था। [illegible] किसी क्षण ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण हो जाता है, कभी चमार। तो, [illegible] वह भी महत्त्वपूर्ण हो उठी थी। हमने आगरा से शादी की

थी। पर शादी हो नही सकी। उसका कहना था कि वह मुझसे प्रेम तो करती है, क्योंकि प्रेम किसी से भी किया जा सकता है। पर वह शादी मुझसे नहीं कर सकती, क्योंकि मैं ज्यादा से ज्यादा एक लैक्चरर बनूगा। शादी वह किसी ऊची चीज से करेगी।

"कहिए—आपकी शादी हो गई ?"

'हां ! हो गई ! तभी तो इतनी 'हैल्दी हो गई हू।"

तो यह आपकी हैल्थ है—मैंने सोचा—शादी का सर्टिफिकेट। मैं कितना बाल बाल बचा। यदि कही इससे शादी हो गई होती, तो आज कही इसकी हैल्थ' का इलाज कराता फिरता।

सहसा मुझे वैज्ञानिको पर बडा क्रोध आया। दुनिया भर के अल्लम-गल्लम पर रिसर्च कर मारी है, पर इतनी महत्त्वपूर्ण चीज की ओर इनका ध्यान क्या नही गया। अभी तक इन्होने ऐसी मशीन क्या नही बनाई, जो शादी के पूर्व यह पता लगा सके कि शादी के पश्चात लडकी की हैल्थ कितनी सुधरेगी। इनलाजमेंट की इस क्षमता को नापना बहुत जरूरी है। मैं तो बच गया—मेरी किस्मत अच्छी थी। पर मेरे साथ के कितने लडके, अपनी पत्नियो की सुपर हैल्थ को लेकर परेशान हैं।

मैं कुछ सकोच का अनुभव तो अवश्य कर रहा था, पर बात तो कोई करनी ही थी। पूछा, 'आपके पति क्या करते हैं ?"

"जी ! हमारा अपना बिजनेस है !' वे बोली, 'दिल्ली म हमारी ड्राईक्लीनिंग की चार दुकानें हैं।"

तभी—तभी—मैंने सोचा—धोबन ! धोबन ! तो वह सचमुच धोबन थी। मैं बाल-बाल बचा। वह चाहती थी कि मैं कोई ऊची चीज बनू तो वह मुझसे विवाह करे। ऊची चीज अर्थात् धोबी। बडी किस्मत से बचा मैं। यदि कही विवाह हो गया होता, तो वह मुझे अवश्य ही धोबी बना कर छोडती। पर जिसकी जन्म कुडली मे धोबी से विवाह करना लिखा था, वह मुझमे विवाह कैसे करती।

'कहिए, कैसे कष्ट किया ?" मैं बहुत औपचारिक हो उठा था।

"जी ! हम अपने बच्चे को जिस स्कूल म एडमिशन दिलाना चाहते हैं, उसम वे उसे ले नही रहे। स्कूल के प्रिंसिपल ने कहा कि वे लोग बुद्धि-